तत्व दृष्टि से बंधन मुक्ति

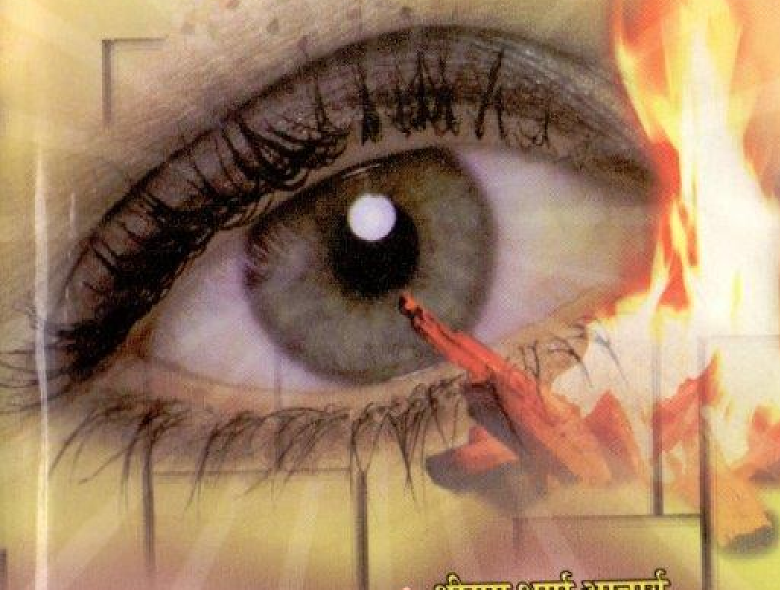

◆ श्रीराम शर्मा आचार्य

तत्त्व दृष्टि से बंधन मुक्ति

*

लेखक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : २१.०० रुपये

विषय-सूची

१. प्रत्यक्ष लगने पर भी सत्य कहाँ ३
२. समस्त दुःखों का कारण अज्ञान २३
३. सुख का केंद्र और स्रोत आत्मा ४२
४. ईश्वर की सच्चिदानंदमय सत्ता ६०
५. ईश्वर ज्वाला है और आत्मा चिनगारी ७३
६. समर्थ सत्ता को खोजें ८७
७. तत्त्वदर्शन से आनंद और मोक्ष ९९

मनुष्यों की भिन्न मनःस्थिति के कारण एक ही तथ्य के संबंध में परस्पर विरोधी मान्यताएँ एवं रुचियाँ होती हैं। यदि यथार्थतः एक ही होती, तो सबको एक ही तरह के अनुभव होते। एक व्यक्ति अपराधों में संलग्न होता है, दूसरा परमार्थ परोपकार में। एक को प्रदर्शन में रुचि है, दूसरे को सादगी में। एक विलास के साधन जुटा रहा है, दूसरा त्याग पथ पर बढ़ रहा है। इन भिन्नताओं से यही सिद्ध होता है कि वास्तव में सुख-दुःख, हानि-लाभ कहाँ है ? किसमें है ? उसका निर्णय किसी सार्वभौमिक कसौटी पर नहीं मनःसंस्थान की स्थिति के आधार पर दृष्टिकोण के अनुरूप ही किया जाता है.....

यह सार्वभौम सत्य यदि प्राप्त हो गया होता तो संसार में मतभेदों की कोई गुंजायश न रहती......।

प्रत्यक्ष लगने पर भी सत्य कहाँ !

जो कुछ हम देखते, जानते या अनुभव करते हैं—क्या वह सत्य है ? इस प्रश्न का मोटा उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है, क्योंकि जो कुछ सामने है, उसके असत्य होने का कोई कारण नहीं। चूँकि हमें अपने पर, अपनी इंद्रियों और अनुभूतियों पर विश्वास होता है इसलिए वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के बारे में जो समझते हैं, उसे भी सत्य ही मानते हैं। इतने पर भी जब हम गहराई में उतरते हैं तो प्रतीत होता है कि इंद्रियों के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं; वे बहुत अधूरे, अपूर्ण और लगभग असत्य ही होते हैं।

शास्त्रों और मनीषियों ने इसलिए प्रत्यक्ष इंद्रियों द्वारा अनुभव किये हुए को ही सत्य न मानने तथा तत्त्वदृष्टि विकसित करने के लिए कहा है। यदि सीधे-सीधे जो देखा जाता व अनुभव किया जाता है, उसे ही सत्य मान लिया जाए तो कई बार बड़ी दुःस्थिति बन जाती है। इस संबंध में मृगमरीचिका का उदाहरण बहुत पुराना है। रेगिस्तानी इलाके या ऊसर क्षेत्र में जमीन का नमक उभरकर ऊपर आ जाता है। रात की चाँदनी में वह पानी से भरे तालाब जैसा लगता है। प्यासा मृग अपनी तृषा बुझाने के लिये वहाँ पहुँचता है और अपनी आँखों के भ्रम में पछताता हुआ निराश वापस लौटता है। इंद्रधनुष दीखता तो है, पर उसे पकड़ने के लिये लाख प्रयत्न करने पर भी कुछ हाथ लगने वाला नहीं है। जल बिंदुओं पर सूर्य की किरणों की चमक ही आँखों पर एक विशेष प्रकार का प्रभाव डालती है और हमें इंद्रधनुष दिखाई पड़ता है, जिसका भौतिक अस्तित्व कहीं नहीं होता।

सिनेमा को ही लीजिए। पर्दे पर तस्वीर चलती-फिरती, बोलती, रोती-हँसती दीखती है। असंभव जैसे जादुई दृश्य सामने

आते हैं। क्या वह सारा दृश्यमान सत्य है। प्रति सेकेंड, सोलह की गति से घूमने वाली अलग-अलग तस्वीरें हमारी आँखों की पकड़ परिधि से आगे निकल जाती हैं, फलतः दृष्टि-भ्रम उत्पन्न हो जाता है। स्थिर तस्वीरें चलती हुई मालूम पड़ती हैं। लाउडस्पीकर से शब्द अलग जगह निकलते हैं और तस्वीरें अलग जगह चलती हैं, पर आँख, कान इसी धोखे में रहते हैं कि तस्वीरों के मुँह से ही यह उच्चारण या गायन निकल रहे हैं।

प्रातःकालीन ऊषा और सायंकालीन सूर्यास्त के समय आकाश में जो रंग-बिरंगा वातावरण छाया रहता है, क्या वह यथार्थ है ? वस्तुतः वहाँ कोई रंग नहीं होता, यह प्रकाश किरणों के उतार-चढ़ाव का दृष्टि संस्थान के साथ आँख-मिचौनी ही है। आसमान नीला दीखता है, पर वस्तुतः उसका कोई रंग नहीं है। पोल का रंग हो भी कैसे सकता है ? आसमान को नीला बताकर हमारी आँखें धोखा खाती हैं और मस्तिष्क को भ्रमित करती हैं।

आँखों का काम मुख्यतया प्रकाश के आधार पर वस्तुओं का स्वरूप समझना है। पर देखा जाता है कि उनकी आधी से ज्यादा जानकारी अवास्तविक होती है। कुछ उदाहरण देखिए। कारखानों की चिमनियों से धुआँ निकलता रहता है। गौर करके उसका रंग देखिए, वह अंतर कई तरह का दिखाई देता रहता है। जब चिमनी की जड़ में पेड़, मकान आदि अप्रकाशित वस्तुएँ हों तो धुआँ काला दिखाई देगा, पर यदि नीचे सूर्य का प्रकाश चमक रहा होगा तो वही धुआँ भूरे रंग का दीखने लगेगा। लकड़ी, कोयला अथवा तेल जलने पर प्रकाश के प्रभाव से यह धुआँ पीलापन लिये हुए दीखता है। वस्तुतः धुएँ का कोई रंग नहीं होता। वह कार्बन की सूक्ष्म कणिकाओं अथवा तारकोल सदृश्य द्रव पदार्थों की बूँदों से बना होता है। इनसे टकराकर प्रकाश लौट जाता है और वे अँधेरी काले रंग की प्रतीत होती हैं।

रेल के इंजन में वायलर की निकास नली से निकलने वाली भाप निकलते समय तो नीली होती हैं, पर थोड़ा ऊपर उठते ही

संघठित हो जाने पर भाप के कणों का आकार बढ़ जाता है और वह श्वेत दिखाई देने लगती है।

जिन फैक्टरियों में घटिया कोयला जलता है, उनका धुआँ गहरा काला होता है और यदि उसमें से आर-पार सूर्य को देखा जाए तो सूर्य गहरे लाल रंग का दिखाई देगा।

पानी के भीतर अगणित जीव-जंतु विद्यमान रहते हैं, पर खुली आँखों से उन्हें देख सकना संभव नहीं, माइक्रोस्कोप की सहायता से ही उन्हें देखा जा सकता है। आकाश में जितने तारे खुली आँखों से दिखाई पड़ते हैं, उतने ही नहीं हैं। देखने की क्षमता से आगे भी अगणित तारे हैं, जो विद्यमान रहते हुए भी आँखों के लिए अदृश्य ही हैं, बढ़िया दुरबीनों से उन्हें देखा जाए तो दृश्य तारागणों की अपेक्षा अनेकों गुने अदृश्य तारे दृष्टिगोचर होंगे।

परमाणु-अणु की सत्ता को सूक्ष्म-दर्शक यंत्रों से भी उसके यथार्थ रूप में देख सकना अभी भी संभव नहीं है। उसके अधिक स्थूल कलेवर की गणित के अध्यात्म पर विवेचना करके परमाणु और उसके अंग-प्रत्यंगों का स्वरूप निर्धारण किया गया है। अणु संरचना के स्पष्टीकरण में जितनी सहायता उपकरणों ने की है उससे कहीं अधिक निष्कर्ष अनुमान पर निर्धारित गणितपरक आधार पर निकाला जाना संभव हुआ है।

यथार्थता की तह तक पहुँचने के लिए हमें परख के आधार को अधिक विस्तृत करना पड़ेगा। इंद्रियजन्य ज्ञान को ही सब कुछ मान बैठना भूल है। जो भौतिक प्रयोगशाला से प्रत्यक्ष हो सके वही सही है, ऐसी बात भी तो नहीं है। ऊपर प्रकाश की आँख मिचौनी से रंगों की गलत अनुभूति होने की चर्चा की गई है। सत्य तक पहुँचने के लिए इन्हीं भोंड़े उपकरणों को परिपूर्ण मानकर चलेंगे तो अंधकार में ही भटकते रहना पड़ेगा। किंवदंतियों और दंत कथाओं के प्रतिपादनों से मुक्ति पाने के प्रयास में यदि इंद्रिय ज्ञान की भोंड़ी भूल-भुलैयों में भटक पड़े तो केवल पिंजड़ा बदला भर हुआ। स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही।

कुछ मोटी बातों को छोड़कर शेष सभी विषयों में हम जो कुछ देखते, जानते और अनुभव करते हैं; उसके संबंध में यही मानते हैं कि वही सत्य है। पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। अपने पर, अपनी इंद्रियों और अनुभूतियों पर विश्वास होने के कारण वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के बारे में जो समझते हैं, उसे ही सत्य समझते हैं, पर गहराई में उतरते हैं तो प्रतीत होता है कि हमारी मान्यताएँ और अनुभूतियाँ हमें नितांत सत्य का बोध कराने में असमर्थ हैं। वे केवल पूर्व मान्यताओं की अपेक्षा से ही कुछ अनुभूतियाँ करती हैं। यदि पूर्व मान्यताएँ बदल जायँ तो फिर अपने सारे निष्कर्ष या अनुभव भी बदलने पड़ेंगे।

➢ मान्यताओं पर निर्भर निष्कर्ष

हमारा बुद्धि-संस्थान केवल अपेक्षाकृत स्तर की जानकारियाँ दे सकने में ही समर्थ है। इतने से ही यदि संतोष होता हो तो यह कहा जा सकता है कि हम जो जानते या मानते हैं वह सत्य है। किंतु अपनी मान्यताओं को ही यदि नितांत सत्य की कसौटी पर कसने लगें तो प्रतीत होगा कि यह बुद्धि-संस्थान ही बेतरह भ्रम ग्रसित हो रहा है, फिर उसके सहारे नितांत सत्य को कैसे प्राप्त किया जाय ? यह एक ऐसा विकट प्रश्न है, जो सुलझाए नहीं सुलझता।

वजन जिसके आधार पर वस्तुओं का विनिमय चल रहा है, एक मान्यता प्राप्त तथ्य है। वजन के बिना व्यापार नहीं चल सकता। पर वजन संबंधी हमारी मान्यताएँ क्या सर्वथा सत्य हैं ? इस पर विचार करते हैं तो पैरों तले से जमीन खिसकने लगती है। वजन का अपना कोई अस्तित्व नहीं। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का जितना प्रभाव जिस वस्तु पर पड़ रहा है, उसे रोकने के लिए जितनी शक्ति लगानी पड़ेगी, वही उसका वजन होगा। तराजू-बाँटों के आधार पर हमें इसी बात का पता चलता है और उसी जानकारी को वजन मानते हैं, पर यह वजन तो घटता-बढ़ता रहता

है। पृथ्वी पर जो वस्तु एक मन भारी है, वह साढ़े तीन मील ऊपर आकाश में उठ जाने पर आधी अर्थात बीस सेर रह जाएगी। इससे ऊपर उठने पर वह और हलकी होती चली जाएगी। पृथ्वी और चंद्रमा के बीच एक जगह ऐसी आती है जहाँ पहुँचने पर उस वस्तु का वजन कुछ भी नहीं रहेगा। वहाँ अगर एक विशाल पर्वत भी रख दिया जाए तो वह बिना वजन का होने के कारण जहाँ का तहाँ लटका रहेगा। अन्य ग्रहों की गुरुता और आकर्षण शक्ति भिन्न है, वहाँ पहुँचने पर अपनी पृथ्वी का भार माप सर्वथा अमान्य ठहराया जायेगा। ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि वजन सापेक्ष है। किसी पूर्व मान्यता, स्थिति या तुलना के आधार पर ही उसका निर्धारण हो सकता है।

लोक व्यवहार की दूसरी इकाई है 'गति'। वजन की तरह ही उसका भी महत्त्व है। गति ज्ञान के आधार पर ही एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने के विभिन्न साधनों का मूल्यांकन होता है, पर देखना यह है कि 'गति' के संबंध में हमारे निर्धारण नितांत सत्य की कसौटी पर खरे उतरतें हैं या नहीं।

हम अपनी कुर्सी पर बैठे लिख रहे हैं और जानते हैं कि स्थिर हैं। पर वस्तुतः एक हजार मील प्रति घंटा की चाल से हम एक दिशा में उड़ते चले जा रहे हैं। पृथ्वी की यही चाल है। पृथ्वी पर बैठे होने के कारण हम उसी चाल से उड़ने के लिए विवश हैं। यद्यपि यह तथ्य हमारी इंद्रियजन्य जानकारी की पकड़ में नहीं आता और निरंतर स्थिरता प्रतीत होती है। पैरों से या सवारी से जितना चला जाता है, उसी को गति मानते हैं।

पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है, इसलिए इस क्षण जहाँ हैं वहाँ वापिस २४ घंटे बाद ही आ सकेंगे। पर यह सोचना भी व्यर्थ है, क्योंकि पृथ्वी ६६६००० मील प्रति घंटा की चाल से सूर्य की परिक्रमा के लिए दौड़ी जा रही है। वह आकाश में जिस जगह है वहाँ लौटकर एक वर्ष बाद ही आ सकती है। किंतु यह मानना भी मिथ्या है, क्योंकि सूर्य महासूर्य की परिक्रमा कर रहा है और पृथ्वी

समेत अपने सौर परिवार के समस्त ग्रह-उपग्रहों को लेकर और भी तीव्र गति से दौड़ता चला जा रहा है और वह महासूर्य अन्य किसी अति सूर्य की परिक्रमा कर रहा है। यह सिलसिला न जाने कितनी असंख्य कड़ियों में जुड़ा होगा। अस्तु एक शब्द में यों कह सकते हैं कि जिस जगह आज हम हैं कम से कम इस जन्म में तो वहाँ फिर कभी लौटकर आ ही नहीं सकते। अपना आकाश छूटा तो सदा-सर्वदा के लिए छूटेगा। इतने पर भी समझते यही रहते हैं कि जहाँ थे उसी क्षेत्र, देश या आकाश के नीचे वहीं जन्म भर बने रहेंगे।

स्थान की भाँति गति की मात्रा भी भ्रामक है। दो रेलगाड़ियाँ समान पटरियों पर साथ-साथ दौड़ रही हों तो वे साथ-साथ हिलती-डुलती भर दिखाई पड़ेगी। दो मोटरें आमने-सामने से आ रही हैं और दोनों चालीस-चालीस मील प्रति घंटे की चाल से चल रही हों, तो जब वे बराबर से गुजरेंगी तो ८० मील की चाल का आभास होगा। जब कभी आमने-सामने से आती हुई रेलगाड़ियाँ बराबर से गुजरती हैं तो दूना वेग मालूम पड़ता है, यद्यपि वे दोनों ही अपनी-अपनी साधारण चाल से चल रही होती हैं। अपनी पृथ्वी जिस दिशा में जिस चाल से चल रही है, वही गति और दिशा अन्य ग्रह-नक्षत्रों की रही होती तो आकाश पूर्णतया स्थिर दीखता। सूर्य तारे कभी न उगते न चलते न डूबते। जो जहाँ है वहीं सदा बना रहता। तब पूर्ण स्थिरता की अनुभूति होते हुए भी सबकी गतिशीलता यथावत् बनी रहती।

गति सापेक्ष है। अंतर कितनी ही तरह निकाला जा सकता है। सौ में से नब्बे निकालने पर दस बचते हैं। तीस में से बीस निकालने पर भी—पचास में से चालीस निकालने पर भी दस ही बचेंगे। अंतर एक ही निकले, इसके लिये अनेकों अंकों का अनेक प्रकार से उपयोग हो सकता है। इतनी भिन्नता रहने पर भी परिणाम में अंतर न पड़ेगा। एक हजार का जोड़ निकालना हो तो कितने ही अंकों का कितनी ही प्रकार से वही जोड़ बन सकता है। गति मापने

के बारे में भी यही बात है। भूतकाल के खगोलवेत्ता सूर्य को स्थिर मानकर यह गणित करते हैं। चंद्र-ग्रहण, सूर्य ग्रहण; सौर मंडल के ग्रह-उपग्रहों का उदय-अस्त, दिन मान, रात्रि मान आदि इसी आधार पर निकाला जाता रहा है। फिर भी वह बिलकुल सही बैठता रहा है। यद्यपि सूर्य को स्थिर मानकर चलने की मान्यता सर्वथा मिथ्या है। मिथ्या आधार भी जब सत्य परिणाम प्रस्तुत करते हैं, तो फिर सत्य-असत्य का भेद किस प्रकार किया जाय, यह सोचने पर बुद्धि थककर बैठ जाती है।

दिशा का निर्धारण भी लोक व्यवहार में आवश्यक है। इसके बिना भूगोल, नक्शा, यातायात की कोई व्यवस्था ही न बनेगी। रेखा गणित में आड़ी, सीधी, तिरछी रेखाओं को ही आधार माना गया है। दिशा ज्ञान के बिना वायुयान और जलयानों के लिए निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँच सकना ही संभव न होगा। पूर्व, पश्चिम आदि आठ और दो ऊपर-नीचे की दशों दिशाएँ लोक व्यवहार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण आधार हैं, पर 'नितांत सत्य' का आश्रय लेने पर यह दिशा मान्यता भी लड़खड़ा कर भूमिसात हो जाती है।

एक लंबी नाली लगातार खोदते चले जाएँ तो प्रतीत होगा कि वह सीधी समतल जा रही है, पर वस्तुतः वह गोलाई में ही खुद रही है और वह क्रम चलता रहने पर खुदाई उसी स्थान पर आ पहुँचेगी जहाँ से वह आरंभ हुई थी। रबड़ की गेंद पर बिलकुल सीधी रेखा खींचने पर भी वस्तुतः वह गोलाई में ही खिंच रही है। सीधी रेखा खींचने का मतलब उसके दोनों सिरों का अंतर सदा बना रहना ही होना चाहिये, पर जब वे अंततः एक में आ मिलें तो फिर सीधी लकीर कहाँ हुई ? कागज पर जमीन पर, या कहीं भी छोटी-बड़ी सीधी लकीर खींची जाए, वह कभी भी सीधी नहीं हो सकती। स्वल्प गोलाई अपने नाप-साधनों से भले ही पकड़ में न आवे, पर वस्तुतः वह गोल ही बन रही होगी। जिस भूमि को हम समतल समझते हैं, वस्तुतः वह भी गोल है। समुद्र समतल दीखता है, पर उस पर चलने वाले जहाजों का मस्तूल ही पहले दीखता है, इससे प्रतीत होता है कि पानी समतल

प्रतीत होते हुए भी पृथ्वी के अनुपात में गोलाई लिए हुए हैं। जमीन पर खड़े होकर जमीन और आसमान से मिलने वाला क्षितिज प्रायः तीन मील पर दिखाई पड़ता है, पर यदि दो सौ फुट ऊँचाई पर चढ़कर देखें तो वह बीस मील दूरी पर मिलता दिखाई देगा। यह बातें पृथ्वी की गोलाई सिद्ध करती हैं। फिर भी मोटी बुद्धि से उसे गोल देख पाने का कोई प्रत्यक्ष साधन अपने पास नहीं है। वह समतल या ऊँची-नीची दीखती है, गोल नहीं। ऐसी दशा में हमारा दिशाज्ञान भी अविश्वस्त ही ठहरता है।

चंद्रमा हमसे ऊँचा है, पर यदि चंद्रतल पर जा खड़े हों तो प्रतीत होगा कि पृथ्वी ऊपर आकाश में उदय होती है। सौर मंडल से बाहर निकलकर कहीं आकाश में हम जा खड़े हों, तो प्रतीत होगा कि पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण ऊपर-नीचे जैसी कोई दिशा नहीं है, दिशाज्ञान सर्वथा सापेक्षित है। दिल्ली, लखनऊ से पश्चिम में, बंबई से पूर्व में, मद्रास से उत्तर में और हरिद्वार से दक्षिण में है। दिल्ली किस दिशा में है, यह कहना किसी की तुलना-सापेक्षता से ही संभव हो सकता है, वस्तुतः वह दिशाविहीन है।

समय की इकाई लोक व्यवहार में एक तथ्य है। घंटा-मिनट के सहारे ही दफ्तरों का खुलना बंद होना—रेलगाड़ियों का चलना-रुकना संभव होता है। अपनी सारी दिनचर्या समय के आधार पर ही बनती है, पर समय की मान्यता भी असंदिग्ध नहीं है। सूर्योदय तथा सूर्यास्त का समय वही नहीं होता, जो हम देखते या जानते हैं। जब हमें सूर्य उदय होते दीखता है, उससे प्रायः ८।। मिनट पहले ही उग चुका होता है। उसकी किरणें पृथ्वी तक आने में इतना समय लग जाता है। अस्त होता जब दीखता है, उससे ८।। मिनट पूर्व ही वह डूब चुका होता है। आकाश में कितने ही तारे ऐसे हैं, जो हजारों वर्ष पूर्व अस्त हो चुके, पर वे अभी तक हमें चमकते दीखते हैं। यह भ्रम इसलिये रहता है कि उनका प्रकाश पृथ्वी तक आने में हजारों वर्ष लग जाते हैं। जब वे वस्तुतः अस्त हुए हैं, उसकी जानकारी अब कहीं इतनी लंबी अवधि के पश्चात् हमें मिल रही है। सौर मंडल के अपने

ग्रहों के बारे में भी यही बात है, वे पंचागों में लिखे समय से बहुत पहले या बाद में उदय तथा अस्त होते हैं।

जो तारा हमें सीध में दीखता है, आवश्यक नहीं कि वह उसी स्थिति में है। प्रकाश की गति सर्वथा सीधी नहीं है। प्रकाश भी एक पदार्थ है और उसकी भी तौल है। एक मिनट में एक वर्ग मील जमीन पर सूर्य का जितना प्रकाश गिरता है, उसका वजन प्रायः एक औंस होता है। पदार्थ पर आकर्षण शक्ति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। तारों का प्रकाश सौर मंडल में प्रवेश करता है, तो सूर्य तथा अन्य ग्रहों के आकर्षण के प्रभाव से लड़खड़ाता हुआ टेढ़ा-तिरछा होकर पृथ्वी तक पहुँचता है। पर हमारी आँखें उसे सीधी धारा में आता हुआ ही अनुभव करती हैं। हो सकता है कि कोई तारा, सूर्य या किसी अन्य ग्रह की ओट में छिपा बैठा हो, पर उसका प्रकाश हमें आँखों की सीध में दीख रहा हो। इसी प्रकार ठीक सिर के ऊपर चमकने वाला तारा, वस्तुतः उस स्थान से बहुत नीचा या तिरछा भी हो सकता है। इस प्रकार दिशा ही नहीं, समय संबंधी मान्यताएँ भी निर्भ्रांत नहीं है।

दार्शनिक विवेचनाओं से देश, काल का उल्लेख होता रहता है। उसे कोई मुल्क या घंटा-मिनट वाला समय नहीं समझ लेना चाहिए। यह पारिभाषिक शब्द है। वस्तुओं की लंबाई-चौड़ाई, मोटाई को 'देश' कहा जाता है और उनके परिवर्तन को 'काल'। आमतौर से वस्तुएँ देश की अर्थात लंबाई, चौड़ाई, मोटाई के आधार पर ही देखी जाती हैं, जबकि उनकी व्याख्या-विवेचना करते हुये काल का चौथा 'आयाम' भी सम्मिलित किया जाना चाहिये। किंतु गतियाँ और दिशाएँ अनिश्चित भी हैं और भ्रामक भी। काल तो उन्हीं पर आश्रित है, यदि आधार ही गड़बड़ा रहा है तो काल का परिमाण कैसे निश्चित हो ? अस्तु वस्तुओं को तीन आयाम की अपेक्षा चार आयाम वाली भी कहा जाए तो भी बात बनेगी नहीं। वस्तुएँ क्या हैं ? उनका रूप, गुण, कर्म स्वभाव क्या है ? यह कहते नहीं बनता क्योंकि उनके परमाणु जिस द्रुतगति से भ्रमणशील रहते हैं, उस अस्थिरता को देखते हुये एक क्षण की गई व्याख्या दूसरे ही क्षण परिवर्तित हो जाएगी।

कौन बड़ा कौन छोटा ? इसका निश्चय भी निःसंकोच नहीं किया जा सकता है। पाँच फुट की लकड़ी छह फुट वाली की तुलना में छोटी है और चार फुट वाली की तुलना में बड़ी। एक फुट मोटाई वाले तने की तुलना में दो फुट वाला मोटा 'अधिक' है, और दो फुट वाले की तुलना में एक फुट वाला पतला। वह वस्तुतः मोटा है या पतला ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता। तुलना बदलते ही यह छोटा और बड़ा होना, पतला और मोटा होना भी सहज ही बदल जाएगा।

कौन धनी है और कौन निर्धन, कौन सुखी है, कौन दुःखी, कौन संत है, कौन ज्ञानी है, कौन अज्ञानी, कौन सदाचारी है, कौन दुराचारी ? इसका निर्णय अनायास ही कर सकना असंभव है। इस प्रकार का निर्धारण करने से पूर्व यह देखना होगा कि किसकी तुलना में निर्णय किया जाय। नितांत निर्धन की तुलना में वह धनी है, जिसके पास पेट भरने के साधन हैं, किंतु लक्षाधीश की तुलना में वह निर्धन ही है। जिसे दस कष्ट हैं, उसकी तुलना में तीन कष्ट वाला सुखी है, पर एक कष्ट वाले की तुलना में वह भी दुःखी है। वस्तुतः कौन सुखी और कौन दुःखी है ? यह नहीं कहा जा सकता। डाकू की तुलना में चोर सहृदय है, किंतु उठाईगीर की तुलना में वह भी अधिक दुष्ट है। एक सामान्य नागरिक की तुलना में उठाईगीर भी दुष्ट है, जबकि वह सामान्य नागरिक भी संत की तुलना में पिछड़ा हुआ और गया-गुजरा है। संत भी किसी महासंत, आत्मत्यागी शहीद की तुलना में हलका बैठेगा।

अपेक्षा से ही हम किसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति का मूल्यांकन करते हैं। तुलना की एक मोटी कसौटी हमारे पास है, जिससे किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। जिनके बारे में वह निर्धारण किया गया है, वे वस्तुतः क्या है ? इसका पता लगाना अपनी ज्ञानेंद्रियों के लिए जिनमें मस्तिष्क भी सम्मिलित है, अति कठिन है, क्योंकि वे सभी अपूर्ण और सीमित हैं। कई अर्थों में तो उन्हें भ्रांत भी कहा जा सकता है। सिनेमा के पर्दे पर तस्वीरें चलती-फिरती दिखाई देती हैं, वस्तुतः वे स्थिर होती हैं, उनके

बदलने का क्रम ही इतना तेज होता है कि आँखें, उसे ठीक तरह पकड़ नहीं पातीं और आकृतियों को ही हाथ-पैर हिलाती, बोलती, गाती, समझ बैठती हैं।

अक्सर हमारी अनुभूतियाँ वस्तुस्थिति से सर्वथा उलटा होती हैं। इंद्रियाँ अपूर्ण ही नहीं कई बार तो वे भ्रामक सूचनाएँ देकर हमें ठगती भी हैं। उनके ऊपर निर्भर रहकर-प्रत्यक्षवाद को आधार मानकर शाश्वत सत्य को प्राप्त करना तो दूर समझ सकना भी संभव नहीं होता।

उदाहरण के लिये प्रकाश को ही लें। प्रकाश क्या है ? उसे विद्युत चुंबकीय लहरों का बवंडर ही कहा जा सकता है। वह कितना मंद या तीव्र है, यह तो उसकी मात्रा पर निर्भर है, पर उसकी चाल सदा एक-सी रहती है। एक सेकंड में वह एक लाख छियासी हजार मील की गति से दौड़ते रहने वाला पदार्थ है। प्रकाश किरणों में सात रंग होते हैं। इन्हीं के सम्मिश्रण से हलके-भारी अनेकानेक रंगों का सृजन होता है।

➢ कोई रंग नहीं दुनिया में

यह बात कहने-सुनने और जानने-मानने में बड़ी विचित्र लगेगी कि संसार के किसी पदार्थ में कोई रंग नहीं है। हर वस्तु रंगरहित है, किंतु यह विशेषता अवश्य है कि प्रकाश की किरणों में जो रंग है, उनमें से किसी को स्वीकार करें अथवा किसी को लौटा दें। बस इसी कारण हमें विभिन्न वस्तुएँ, विभिन्न रंगों की दीखती हैं। पदार्थ जिस रंग की किरणों को अपने में सोखता नहीं, वे उससे टकराकर वापिस लौटती हैं। वापिसी में वे हमारी आँखों से टकराती हैं और हम उस टकराव को पदार्थ का अमुक रंग होने के रूप में अनुभव करते हैं। पौधे वस्तुतः हरे नहीं होते, उनका कोई रंग नहीं है। हर पौधा सर्वथा बिना रंग का है, पर उसमें प्रकाश की हरी किरणें सोखने की शक्ति नहीं होती अस्तु वे उसमें प्रवेश नहीं कर पातीं। वापिस लौटते हुए हमारी आँखों को इस भ्रम में डाल जाती

है कि पौधे हरे होते हैं। हम उसी छलावे को शाश्वत सत्य मानते रहते हैं और प्रसंग आने का पूरा जोर लगाकर यह सिद्ध करते रहते हैं कि पौधे निश्चित रूप से हरे होते हैं। कोई उससे भिन्न बात कहे तो हँसी उसी की बुद्धि पर आवेगी, भ्रांत और दुराग्रही उसी को कहेंगे। यह जानने और मानने का कोई मोटा आधार दिखाई नहीं पड़ता है कि हमारी ही आँखें धोखा खा रही हैं—प्रकृति की जादूगरी, कलाबाजी हमें ही छल रही है। पेड़ का तो उदाहरण मात्र दिया गया। हर पदार्थ के बारे में हम रंगों के संबंध में ऐसे ही भ्रम-जंजाल में जकड़े हुए हैं। जिन आँखों को प्रामाणिक मानते हैं, जिस मस्तिष्क की विवेचना पर विश्वास करते हैं, यदि वही भ्रमग्रस्त होकर हमें झुठलाने लगे तो फिर हमारा 'प्रत्यक्षवाद' को तथ्य मानने का आग्रह बेतरह धूल-धूसरित हो जाता है।

हमारी दृष्टि में काला रंग सबसे गहरा रंग है और सफेद रंग कोई रंग नहीं है। पर यथार्थता इस मान्यता से सर्वथा उलटी है। किसी भी रंग का न दीखना काला रंग है और सातों रंगों का सम्मिश्रण सफेद रंग। अंधेरा वस्तुतः 'कुछ भी नहीं' कहा जा सकता है, जबकि वह घोर-घना छाया दीखता है और उसके कारण कुछ भी सूझ न पड़ने की स्थिति आ जाती है। वैशेषिक दर्शन ने अंधेरे को कोई पदार्थ मानने से इनकार किया है, जबकि दूसरे दार्शनिक उसे एक तत्त्व मानने का जोर-शोर से प्रतिपादन करते हैं। कालापन सभी प्रकाश किरणों को अपने भीतर सोख लेता है। फलतः हमारे पल्ले कुछ नहीं पड़ता है और अंधेरे में ठोकर खाते हैं—घनी कालिमा छाई देखते हैं।

किसी भी रंग की किरणें सोख सकने में जो पदार्थ सर्वथा असमर्थ हैं, वे ही हमें सफेद दीखते हैं। कारण यह है कि उनसे टकराकर परावर्तित प्रकाश तरंगें वापस लौटती हैं और उनके सातों रंगों का सम्मिश्रण हमारी आँखों को सफेद रंग के रूप में दीखता है। कैसी विचित्र, कैसी असंगत और कैसी भ्रम-जंजाल भरी विडंबना है यह, जिसे न उगलते बनता है न निगलते। न स्वीकार करने को मन

होता है, न अस्वीकार करने का साहस। अपने ही अपूर्ण उपकरणों पर क्षोभ व्यक्त न करते हुए, मन मसोस कर बैठना पड़ता है। वैज्ञानिक सिद्धियों को अस्वीकार कैसे किया जा सकता है ? हलका, भारी, गहरा, उथला कालापन भी एक पहेली है। अंधकार कहीं या कभी बहुत गहरा होता है और कहीं या कभी उसमें हलकापन रहता है, यह भी उतने अंशों में प्रकाश को सोखने, न सोखने की क्षमता पर निर्भर रहता है। काले रंग में प्रकाश का सारा अंश सोख लेने की क्षमता का एक प्रमाण यह है कि वह धूप में अन्य पदार्थों की अपेक्षा अधिक मात्रा में और अधिक जल्दी गरम होता है।

अब एक नया प्रश्न उभरता है कि प्रकाश किरणों में रंग कहाँ से आता है ? इस स्थल पर उत्तर और भी विचित्र बन जाता है प्रकाश लहरों की लंबाई का अंतर ही रंगों के रूप में दीखता है। वस्तुतः रंग नाम की कोई चीज समस्त विश्व में कहीं कुछ है ही नहीं। उसका अस्तित्व सर्वथा भ्रामक है।

विद्युत् चुंबकीय तरंगें ही प्रकाश हैं। इन तरंगों की लंबाई अलग-अलग होती हैं। अस्तु उनका अनुभव हमारा मस्तिष्क भिन्न-भिन्न अनुभूतियों के साथ करता है। यह अनुभूति-भिन्नता ही रंगों के रूप में विदित होती है। सात रंग तथा उनसे मिल-जुलकर बनने वाले अनेकानेक रंगों को वैज्ञानिक विश्लेषण प्रकाश तरंगों की लंबाई की मस्तिष्कीय अनुभूति के रूप में ही किया जा सकता है। रंगों की अपनी तात्त्विक सत्ता कुछ भी नहीं है।

आश्चर्य का अंत इतने से ही नहीं हो जाता। रंगों की दुनिया बहुत बड़ी है, उस मेले में हमारी जान-पहचान बहुत थोड़ी-सी है। बाकी तो सब कुछ अनदेखा ही पड़ा है। लाल रंग की प्रकाश तरंगें एक इंच जगह में तैंतीस हजार होती हैं, जबकि कासनी रंग की सोलह हजार। इंफ्रारेड तरंगें एक इंच में मात्र ८० ही होती हैं। इसके विपरीत रेडियो तरंगों की लंबाई बीस मील से लेकर दो हजार मील तक पाई जाती है। यह अधिक लंबाई की बात हुई। अब छोटाई की बात देखी जाए, तो परा कासनी किरण एक इंच में

बीस लाख तक होती है। एक्सरे किरणें एक इंच में पाँच करोड़ से एक अरब तक पाई जाती है। गामा तरंगें एक इंच में २२० अरब। इतने पर भी इन सबकी चाल एक जैसी है, अर्थात् सेकंड में वही एक लाख छियासी हजार मील।

अगर हम विदित प्रकाश किरणों को खुली आँखों की अपेक्षा यंत्रों से देख सकने में समर्थ हो सकें तो जिस प्रकार एक सात रंगों का सप्तक हमें दीखता है, उसके अतिरिक्त अन्यान्य ऐसे रंगों के जिनकी आज तो कल्पना कर सकना भी अपने लिए कठिन है ६७ सप्तक और दीखते हैं। ६७ × ७ = ४६६ रंगों के सम्मिश्रण से कितने अधिक रंग बन जाते, इसका अनुमान इसी से लगाया जाता है कि विज्ञान सात रंगों से ही हजारों प्रकार के हलके भारी रंग बने हुए दीखते हैं।

प्रातःकाल का अरुणोदय और लाल रंग का सूर्य निकलना, इस रंग भ्रम-जंजाल की एक झलक है। सूर्य वस्तुतः सफेद ही होता है, पर सबेरे वह सिर पर नहीं, पूर्व में तिरछी स्थिति में होता है। इसलिए उसकी किरणों को बहुत लंबा वायुमंडल पार करना पड़ता है। इस मार्ग में बहुत अधिक धूलि कण आड़े आते हैं। वे कण लाल रंग नहीं सोख पाते, अस्तु वे किरणें हम तक चली जाती हैं और सबेरे का उगता हुआ सूर्य लाल दिखाई पड़ता है।

आँखें कितना अधिक धोखा खाती हैं और मस्तिष्क कितनी आसानी से बहक जाता है, इसका एक उदाहरण रंगों की दुनिया में पहला पैर रखते ही विदित हो जाता है। अन्य विषयों में भी हमारी भ्रांति का ठिकाना नहीं। जीवन का स्वरूप, प्रयोजन और लक्ष्य एक प्रकार से पूरी तरह विस्मृत कर दिया है और जड़-पदार्थों पर अपनी ही मान्यता को बखेरकर उन्हें प्रिय-अप्रिय के रूप में देखने की स्थिति को संसार से मिलने वाले सुख-दुःख मान लिया है। आत्म-ज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि यदि मिल सके तो पता लगेगा कि हम अज्ञान, माया और भ्रम के जिस जंजाल में फँसे हुए हैं, उनसे निकले बिना सत्य के दर्शन नहीं हो सकते और सत्य के बिना सुख नहीं मिल सकता।

वेदांत दर्शन संसार को माया बताता है और संसार को स्वप्न कहता है, इसका अर्थ यह नहीं कि जो कुछ दीखता है, उसका अस्तित्व ही नहीं अथवा जो सामने है वह झूठ है। वर्तमान स्वरूप एवं स्थिति में वे सत्य भी हैं। यदि ऐसा न होता तो कर्मफल क्यों मिलते ? पुण्य और तप-तितीक्षा करने की आवश्यकता होती ? कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में क्या अंतर होता है ? धर्मकृत्यों की क्या उपयोगिता रह जाती ? और पाप-कर्मों से डरने-बचने की क्या आवश्यकता रहती ?

माया का अर्थ वेदांत ने इस अर्थ में किया है—जिसमें जो भाषित होता हो वह तत्त्वतः यथार्थ नहीं। जगत को इसी स्थिति में इसी स्तर का माना गया है। वह जैसा कुछ प्रतीत होता है, क्या वह वैसा ही है ? इस प्रश्न पर जब गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि संसार में जो कुछ हम इंद्रियों द्वारा देखते हैं, अनुभव करते हैं, वह यथार्थ में वैसा ही नहीं होता। इंद्रिय छिद्रों के माध्यम से मस्तिष्क को होने वाली अनुभूतियों के नाम की जानकारी तभी सत्य हो सकती है, जब वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को सही रूप में इंद्रियाँ समझ सकें। यदि वे धोखा खाने लगें तो मस्तिष्क गलत अनुभव करेगा और वस्तुस्थिति उलटी दिखाई पड़ने लगेगी।

नशा पी लेने पर मस्तिष्क और इंद्रियों का संबंध लड़खड़ा जाता है, फलस्वरूप कुछ का कुछ अनुभव होता है। शराब के नशे में धुत्त व्यक्ति जैसा कुछ सोचता, समझता, देखता, अनुभव करता है, वह यथार्थता से बहुत भिन्न होता है और भी ऊँचे नशे इस उन्मत्तता की स्थिति को और भी अधिक बढ़ा देते हैं। एल. एस. डी. सरीखे नवीन नशे तो इतने तीव्र हैं कि उनके सेवन के उपरांत ऐसे विचित्र अनुभव मस्तिष्क को होते हैं, जिनकी यथार्थता के साथ कोई संगति नहीं होती।

साधारणतया दैनिक जीवन में भी अधिकांश अनुभव ऐसे होते हैं, जिन्हें यथार्थ नहीं कहा जा सकता। सिनेमा के पर्दे पर जो दीखता है, वह सही कहाँ है ? एक के बाद एक आने वाली

अलग-अलग तस्वीरें इतनी तेजी से घूमती हैं कि उस परिवर्तन को आँखें ठीक तरह समझ नहीं पातीं और ऐसा भ्रम होता है मानो फिल्म में पात्र चल-फिर रहे हैं। लाउडस्पीकर से शब्द अलग अन्यत्र निकलते हैं और पर्दे पर तस्वीर के होठ अलग चलते हैं, पर दर्शकों को ऐसा ही आभास होता रहता है कि मानो अभिनेता के मुख से ही वार्तालाप एवं संगीत निकल रहा है। प्रकाश की विरलता और सघनता भर पर्दे पर उतरती है, पर उसी से पात्रों एवं दृश्यों का स्वरूप बन जाता है और मस्तिष्क ऐसा अनुभव करता है मानो यथार्थ ही वह घटनाक्रम घटित हो रहा है।

सिनेमा के दृश्य क्रम को देखकर आने वाला यह नहीं अनुभव करता कि उसे यांत्रिक जाल-जंजाल में ढाई-तीन घंटे उलझा रहना पड़ा है। उसे जो दुःखद-सुखद, रोचक, भयानक अनुभूतियाँ उतने समय होती रही हैं, वे सर्वथा भ्रांत थीं। सिनेमा हाल में कोई घटना क्रम नहीं घटा। कोई प्रभावोत्पादक परिस्थिति नहीं बनी, केवल प्रकाश यंत्र या ध्वनि-यंत्र अपने-अपने ढंग की कुछ हरकतें भर करते रहे। इतने भर से दर्शक अपने सामने अति महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम उपस्थित होने का आभास करता रहा, इतना ही नहीं उससे हर्षातिरेक एवं अश्रुपात जैसी भावना भारी मनःस्थिति में भी बना रहा। इस इंद्रिय भ्रम को माया कहा जाता है। मोटी दृष्टि से यह माया सत्य है। यदि सत्य न होती तो फिल्म उद्योग, सिनेमा हाल, उसमें युक्त हुए यंत्र, दर्शकों की भीड़, उनकी अनुभूति आदि का क्या महत्त्व रह जाता ? थोड़ी विवेचनात्मक गहराई से देखा जाय तो यह यंत्रों की कुशलता और वस्तुस्थिति को समझ न सकने को नेत्र-असमर्थता के आधार पर इस फिल्म दर्शन को मायाचार भी कह सकते हैं। दोनों ही तथ्य अपने-अपने ढंग से सही है। संसार चूँकि हमारे सामने खड़ा है, उसके घटनाक्रम को प्रत्यक्ष देखते हैं। इसलिए वह सही है, किन्तु गहराई में प्रवेश करने पर वे दैनिक अनुभूतियाँ नितांत भ्रामक सिद्ध होती हैं। ऐसी दशा में उन्हें भ्रम, स्वप्न या माया कहना भी अत्युक्ति नहीं है।

स्पष्ट है, सभी दृश्य पदार्थ एक विशेष प्रकार के परमाणुओं का एक विशेष प्रकार का संयोग मात्र है। प्रत्येक परमाणु अत्यंत तीव्र गति से गतिशील है। इस प्रकार हर पदार्थ अपनी मूलस्थिति में आश्चर्यजनक तीव्र गति से हरकत कर रहा है। पर खुली आँखें येह सब कुछ देख नहीं पातीं और वस्तुएँ सामने जड़वत् स्थिर खड़ी मालूम पड़ती हैं। ऐसा ही अपनी पृथ्वी के बारे में भी होता है। भूमंडल अत्यंत तीव्र गति से (१) अपनी धुरी पर (२) सूर्य की परिक्रमा के लिए अपनी कक्षा पर (३) सौर मंडल सहित महासूर्य की परिक्रमा के पथ पर (४) घूमता हुआ लट्टू जिस तरह इधर-उधर लहकता रहता है, उस तरह लहकते रहने के क्रम पर (५) ब्रह्मांड के फलते-फूलते जाने की प्रक्रिया के कारण अपने यथार्थ आकाश स्थान को छोड़कर, फैलता स्थान पकड़ते जाने की व्यवस्था पर—निरंतर एक साथ पाँच प्रकार की चालें चलती रहती हैं। इस उद्धत नृत्य को हम तनिक भी अनुभव नहीं करते और देखते हैं कि जन्म से लेकर मरण काल तक धरती अपने स्थान पर जड़वत् जहाँ की तहाँ पड़ी रहती है। आँखों के द्वारा मस्तिष्क को इस संबंध में जो जानकारी दी जाती है और जैसी कुछ मान्यता आमतौर से बनी रहती है, उसका विश्लेषण किया जाए तो प्रतीत होगा कि हम भ्रम अज्ञान की स्थिति में पड़े रहते हैं और कुछ का कुछ अनुभव करते रहते हैं, यह मायाग्रस्त स्थिति कही जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी।

जल में सूर्य, चंद्र के प्रतिबिंब पड़ते हैं और लगता है कि पानी में प्रकाश पिंड जगमगा रहे हैं। हर लहर पर प्रतिबिंब पड़ने से हर लहर पर एक चंद्रमा नाचता-थिरकता मालूम पड़ता है। रेल में बैठने वाले देखते हैं कि वे अपने स्थान पर स्थिर बैठे हैं, केवल बाहर तार के खंभे और पेड़ आदि भाग रहे हैं। क्या यह अनुभूतियाँ सत्य हैं ?

रात्रि को स्वप्न देखते हैं। उस स्वप्नावस्था में दिखाई पड़ने वाला घटनाक्रम यथार्थ मालूम पड़ता है। देखते समय दुःख-सुख भी

होता है। यदि यथार्थ में संदेह होता तो कई बार मुख से कुछ शब्द निकल पड़ना—स्वप्नदोष आदि हो जाने की बात क्यों होती ? जागने पर स्पष्ट हो जाता कि जो सपना देखा गया था, उसमें यथार्थ कुछ भी नहीं था। केवल कल्पनाओं की उड़ान को निंद्रित मस्तिष्क ने यथार्थ अनुभव कर लिया। उतने समय की मूर्छित मनःस्थिति अपने को भ्रम-जंजाल में फँसाए रहकर बे सिर-पैर की उड़ानों में उड़ाती रही।

अंधेरे में झाड़ी भूत जैसी लगती है—रस्सी का टुकड़ा साँप प्रतीत होता है, मरीचिकाएँ थल में जल का और जल में थल का भान कराती हैं। यथार्थता से सर्वथा भिन्न अनुभूतियों का होना कोई अनहोनी बात नहीं है। आकाश में बहुत ऊँचे उड़ने वाले वायुयान छोटे पक्षी जैसे लगते हैं। पृथ्वी की अपेक्षा लाखों गुने बड़े और अपने सूर्य से हजारों गुने अधिक चमकदार तारागण नन्हें से दीपक की तरह टिमटिमाते दीखते हैं। क्या यह सारे दृश्य यथार्थ में वैसे ही हैं, जैसे कि आँखें हमें अनुभव कराती हैं ? आँखों की तरह ही अन्य इंद्रियों की बात है। वे एक सीमा तक ही वस्तुस्थिति का ज्ञान कराती हैं और जो बताती-जताती हैं, उसमें से भी अधिकांश भ्रांत होता है। बुखार आने पर गर्मी की ऋतु में शीत का और शीत में गर्मी का अनुभव होता है। मुँह का जायका खराब होने पर हर चीज कड़ुवी लगती है। जुकाम हो जाने पर चारों ओर बदबू का अनुभव होता है। पीलिया रोग होने पर आँखें पीली हो जाती हैं और हर चीज पीले रंग का दिखाई पड़ती है। क्या यह अनुभूतियाँ सही होती हैं ?

जिस वस्तु का जैसा स्वाद प्रतीत होता है, वह वास्तविक नहीं है। यदि ऐसा होता तो मनुष्य को जो नीम के पत्ते कड़ुए लगते हैं, वे ऊँट को भी वैसे ही क्यों लगते, वह उन्हें रुचिपूर्वक स्वादिष्ट पदार्थों की तरह क्यों खाता ? खाद्य-पदार्थों का स्वाद हर प्राणी की जिह्वा से निकलते रहने वाला अलग-अलग स्तर के रसों तथा मुख

के ज्ञान-तंतुओं की बनावट पर निर्भर है। भोजन मुँह में गया—वहाँ के रसों का सम्मिश्रण हुआ और उस मिलाप की जैसी कुछ प्रतिक्रिया मस्तिष्क पर हुई, उसी का नाम स्वाद की अनुभूति है। खाद्य पदार्थ की वास्तविक रासायनिक स्थिति, इस स्वाद अनुभूति से सर्वथा भिन्न है। जो कुछ चखने पर अनुभव होता है, वह यथार्थ नहीं है।

शरीर विज्ञानी जानते हैं कि काया का निर्माण अरबों-खरबों कोशिकाओं के सम्मिलन से हुआ है। उनमें से प्रतिक्षण लाखों मरती हैं और नई उपजती हैं। यह क्रम बराबर चलता रहता है और थोड़े ही दिनों में, कुछ समय पूर्व वाली समस्त कोशिकाएँ मर जाती हैं और उनका स्थान नई ग्रहण कर लेती हैं। इस तरह एक प्रकार से शरीर का बार-बार कायाकल्प होता रहता है। पुरानी वस्तु एक भी नहीं रहती, उनका स्थान नये जीव कोष ग्रहण कर लेते हैं। देह के भीतर एक प्रकार श्मशान जलता रहता है और प्रसूतिगृह में प्रजनन की धूम मची रहती है। इतनी बड़ी हलचल का हमें तनिक भी बोध नहीं होता और लगता है देह जैसी की तैसी रहती है। जिन इंद्रियों के सहारे हम अपना काम चलाते हैं, उनमें इतना भी दम नहीं होता कि बाहरी वस्तुस्थिति बनाना तो दूर अपने भीतर की इतनी महत्त्वपूर्ण हलचलों का तो आभास दे सकें। ऐसी इंद्रियों के आधार पर यथार्थ जानकारी का दावा कैसे किया जाय ? जिस मस्तिष्क को अपने कार्य क्षेत्र शरीर के भीतर होने वाले रोगों में क्या स्थिति बनी हुई है, इतना तक ज्ञान नहीं और घर की बात को बाहर वालों से पूछना पड़ता है, वैद्य-डाक्टरों का दरवाजा खट-खटाना पड़ता है, उस मस्तिष्क पर यह भरोसा कैसे किया जाय कि वह इस ज्ञान का वस्तु स्थिति में हमें सही रूप में अवगत करा देगा ?

ज्ञान जीवन का प्राण है। पर यह होना यथार्थ स्तर का चाहिए। यदि कुछ का कुछ समझा जाय, उलटा देखा और जाना

जाय, भ्रम-विपर्यय हमारी जानकारियों का आधार बन जाए, तो समझना चाहिए वह ज्ञान प्रतीत होने वाली चेतना वस्तुतः अज्ञान ही है । उसमें जकड़े रहने पर हमें विविध-विधि त्रास ही उठाने पड़ेंगे, पग-पग पर ठोकरें खानी पड़ेंगी। इसी स्थिति को माया कहते हैं। माया कोई बाहरी संकट नहीं, मात्र भीतरी भ्रांति भरी मनःस्थिति ही है, यदि उसे सुधार लिया जाए, तो समझना चाहिए माया के बंधनों से मुक्ति मिल गई। वह मुक्ति वस्तुतः हर किसी को मिलना गलत है।

❑ ❑

समस्त दु:खों का कारण अज्ञान

प्रगति वस्तुओं के बाहुल्य के, इंद्रिय भोगों के अथवा प्रिय परिस्थितियों की उपलब्धि के साथ जुड़ी हुई नहीं है, वरन् ज्ञान के विस्तार से संबंधित है। जिनका ज्ञान जितना सीमित है, वह उतना ही पिछड़ा हुआ है। संभव है, जिनकी ज्ञान-संपदा बढ़ी-चढ़ी है, उनकी शक्ति और अशक्ति का लेखा-जोखा भी ज्ञान संपदा की न्यूनाधिकता के साथ जुड़ा हुआ है।

मनुष्य का नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्तर उसकी सुसंस्कृत ज्ञान चेतना के साथ जुड़ा हुआ है। भौतिक शक्तियों के उपार्जन और उपभोग को भी मानसिक विकास से पृथक् नहीं रखा जा सकता। आदिकाल में मनुष्य शारीरिक दृष्टि से अब की अपेक्षा अधिक बलिष्ठ रहा होगा, पर उसकी चेतना पशु स्तर से कुछ ही ऊँची होने के कारण सुविकसित लोगों की तुलना में गया-गुजरा ही सिद्ध होता रहा है। अतीत के पिछड़ेपन पर जब एक दृष्टि डालते हैं, तो प्रतीत होता है कि चिंतन क्षेत्र में अज्ञान की स्थिति कितनी कष्टकर और कितनी लज्जास्पद परिस्थितियों में मनुष्य को डाले रही है।

'अमेरिकन म्यूजियम ऑफ नेचुरल हिस्ट्री' के पक्षी विभाग एसोसियेट क्यूरेटर द्वारा प्रकाशित विवरणों से पता चलता है कि न्यूगिनी के आदिम और आदिवासी किस तरह अपने क्षेत्र में जा भटकने वाले लोगों को भून-भूनकर खा जाते थे। उस क्षेत्र में पक्षियों की खोज में एक खोजी दल जा पहुँचा। पापुआन क्षेत्र के मियाओ कबीले बड़े निर्दय, क्रूर कर्मों के लिये प्रसिद्ध हैं। इस क्षेत्र में किसी विशेष सुरक्षा-व्यवस्था के बिना किसी को जाने देने की इजाजत नहीं है, पर वह खोजी दल किसी प्रकार उस क्षेत्र में ही पहुँचा और उसके सभी सदस्यों का रोमांचकारी बध हो गया।

पादरी आइवो स्केफर उस क्षेत्र में ४५ वर्ष से इन नर-भक्षियों के बीच प्रभु ईसा का संदेश सुनाने के लिये रहते थे। उन्होंने इन नर-भक्षियों को अपने प्रेम एवं सेवा कार्य से प्रभावित कर रखा था। शिक्षा-चिकित्सा आदि उपायों से उन्होंने इस क्षेत्र के निवासियों का मन जीत लिया था। उन्हें वे पवित्र आत्मा समझते थे और किसी प्रकार की हानि पहुँचाने के स्थान पर सम्मान प्रदान करते थे।

आरंभ में उस निष्ठावान, धर्मात्मा किंतु क्रिया कुशल पादरी ने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ इन लोगों के बीच अपना स्थान बनाया था। स्केफर ने अपनी पुस्तिका में लिखा है कि—पहली बार जब वे इस इलाके में अपने एक साथी के साथ गये तो उन्हें नर-भक्षियों के द्वारा घेर लिया गया। उन देखने वालों ने शोर मचाकर ४०-५० योद्धाओं को बुला लिया—वे भाले ले-लेकर आ गये और हम लोगों को चारों ओर से घेरे में लेकर हर्ष नृत्य करने लगे। उन्हें दो मनुष्य का—उसमें भी गोरों का ताजा मांस खाने को मिलेगा। इस कार्य का श्रेय वे लेंगे इस खुशी में उन्मत्तों जैसी उछल-कूद कर रहे थे। घेरे में आये शिकार अब भाग तो सकते नहीं थे।

इस संबंध में वे निश्चिंत होकर देवता के बलिदान के उद्देश्य से गीत गा रहे थे और हर्ष मना रहे थे।

पादरी ने एक युक्ति से काम लिया। उसने थैले में से एक दर्पण निकाला और उसे आदिवासियों के सरदार के सामने कर दिया, उसने जैसे ही अपनी आकृति देखी वह डर गया। दर्पण उन लोगों के लिये सर्वथा नई वस्तु थी। एक-एक करके पादरी ने दर्पण सभी को दिखाया। वे सभी बहुत डरे और समझने लगे कि यह आदमी कोई जादूगर है, इसे मारने से कोई विपत्ति आ सकती है। अस्तु वे अपने-अपने भाले फेंककर उसके इर्द-गिर्द आशीर्वाद पाने के लिए सिर झुकाकर बैठ गये। पादरी ने एक और दूसरा चमत्कार प्रकट किया। उसके पोपले मुँह में दोनों जबड़े नकली दाँतों के लगे थे। उन बैठे हुए दर्शकों को संबोधित कर अब उसने एक नया जादू दिखाया। मुँह में से दाँतों की बत्तीसी निकाली, दाँत उन्हें

दिखाये, पोपला मुँह दिखाया और फिर दाँतों को मुँह में ठूँसकर पहले जैसा मुँह बना लिया। आदिवासी इस चमत्कार को देखकर दंग रह गये और उन्होंने पूरा भरोसा कर लिया कि यह कोई जादुई पुरुष है, इतनी मान्यता बना देने से पादरी का काम बहुत सरल हो गया और निश्चिंततापूर्वक अपना काम उस क्षेत्र में करने लगे। काम चलाऊ टूटी-फूटी आदिवासी भाषा तो उन्होंने पहले ही सीख ली थी।

पादरी ने लिखा है कि न्यूगिनी के यह आदिवासी योद्धा, निर्दयी, क्रूर, कष्ट-सहिष्णु और भारी अनुदार होते हैं। एक कबीले का अधिकार जिस क्षेत्र पर है, उसमें घुसकर यदि किसी दूसरे कबीले का कोई सदस्य भूल से या जान-बूझकर कोई पेड़ काट ले, तो इतने से ही वे लोग आग बबूला हो जाते और रात को छिपकर उस पर हमला बोल देते। एक बार के हमले का जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा है कि कॉंगनामन कबीले के लोगों ने अपने पड़ौसी करारन कबीले की झोंपड़ियों पर चढ़ाई करके सोते हुए लोगों को पकड़ लिया और उनमें तीस के सिर काटकर ले आये। इस विजयोपहार में से एक सिर भेंट करने के लिए पादरी के पास भी आये थे।

कबीले के मुखिया तथा योद्धा बनने के लिए, वे लोग पूरी तैयारी करते हैं। प्रायः १६ वर्ष की आयु में उसे इसकी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए एक जीवित मनुष्य का सिर काटना पड़ता है। अक्सर इस कार्य के लिए अपने ही कबीले की या किसी अन्य कबीले से खरीदी हुई औरत प्रयुक्त की जाती है। थोड़े पालतू पशु, चमड़ा, पक्षियों के पंख आदि देकर औरतें आसानी से खरीदी भी जा सकती हैं। वध-उत्सव पर उस अभागी महिला को देवगृह में ले जाया जाता है, जहाँ वह नव योद्धा भाले से छेद-छेदकर उस स्त्री का काम तमाम कर देता है और फिर उसका सिर काटकर सरदार को भेंट करता है। इतना कर लेने पर उसकी गणना कबीले के

योद्धा के रूप में होने लगती है। इन्हीं में से पीछे कोई मुखिया भी चुन लिया जाता है।

एक बार तो पादरी के यहाँ ठहरे हुए गोरों को घेर लिया और प्रस्ताव किया कि दल की एक गोरी महिला उन्हें वध करने के लिए दी जाय, इसके बदले बीस आदिवासी युवतियाँ उन्हें दे देंगे। इस धर्म संकट को भी बड़ी चतुरतापूर्वक ही टाला जा सका।

अतीत में अज्ञान ही पिछड़ी हुई परिस्थितियों में मनुष्य में रहा है। आज जिस स्थिति पर थोड़ा गर्व संतोष कर सकते हैं, वह ज्ञान साधन का ही प्रतिफल है। भविष्य में यदि अधिक सुख-शांति की, आनंद उल्लास की परिस्थितियाँ अभीष्ट हों तो उसके लिये सद्ज्ञान संपदा की दिशा में हमारे प्रयास अधिकाधिक तीव्र होने चाहिए। जिन दिनों भारत का स्वर्णिम काल था, उन दिनों यहाँ की ज्ञान संपदा ही मूर्धन्य स्तर पर पहुँची हुई थी। संसार को स्वर्ग और मनुष्य को देवोपम बनाने के लिये, वर्तमान दुर्गति के दलदल से निकलने के लिए ज्ञान-साधना में अनवरत रूप से संलग्न रहने की आवश्यकता है। भूत और वर्तमान की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान के बिना उज्ज्वल भविष्य का और कोई मार्ग नहीं है।

इस ज्ञान साधना के संबंध में उपनिषदकार ने कहा है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू,
स्तस्मात्परांङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष—
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।

—कठ० २।१।१

अर्थात—"स्वयंभू परमात्मा ने समस्त इंद्रियों के द्वार बाहर की ओर निर्मित किये हैं, इसलिए बाह्य वस्तुएँ ही देखी जाती हैं, अंतरात्मा नहीं देखी जाती। किसी मेधावी ने ही अमृतत्व की कामना

कर चक्षु आदि को भीतर की ओर प्रेरित कर अंतरात्मा के दर्शन (अनुभव) किये हैं।

हम बाह्य जीवन के बारे में सुविस्तृत संसार के बारे में बहुत कुछ जानते हैं, पर आश्चर्य की बात यह है कि अपने संबंध में अपनी सत्ता और महत्ता के संबंध में बहुत ही कम जानते हैं। बहिर्मुखी जीवन व्यस्त रहता है और यथार्थता के समझने की न तो आवश्यकता समझता है और न अवसर पाता है। यदि अपने स्वरूप, लक्ष्य और कर्तव्य की ठीक तरह भान हो जाए और संसार के साथ अपने संबंधों को ठीक तरह जान सुधार लिया जाए, तो यह साधारण दीखने वाला मानवी अस्तित्व महानता से सहज ही ओत-प्रोत हो सकता है।

जीवनयापन करने के लिए हमें नौ उपकरण प्राप्त हैं। (१) नेत्र (२) जिह्वा (३) नासिका (४) कान (५) त्वचा (६) मन (७) बुद्धि (८) चित्त (९) अहंकार, इन्हीं के माध्यम से हमें विभिन्न प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान को ही यथार्थ मानते हैं। पर थोड़ी गहराई के साथ देखा जाए तो प्रतीत होगा कि यह सभी उपकरण एक सीमित और सापेक्ष जानकारी देते हैं, इनके माध्यम से मिली जानकारी न तो यथार्थ होती है और न पूर्ण। इसलिए उन अपूर्ण साधनों से मिली जानकारी को सही मान बैठना 'भूल' ही कही जाएगी। वेदांत की भाषा में इस अपूर्ण जानकारी को 'स्वप्न' या मिथ्या कहकर उसका वस्तुस्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

संसार में अनेक कारणों से अनेक शब्द कंपन उत्पन्न होते रहते हैं, इन ध्वनि-तरंगों की गति भिन्न-भिन्न होती हैं। मनुष्य के कान केवल उतने ही ध्वनि कंपन पकड़ सुन सकते हैं। जिनकी गति ३३ प्रति सेकंड से लेकर ४० प्रति सेकंड के बीच में होती है। इससे कम या ज्यादा गति वाले कंपन अपने कानों की पकड़ में नहीं आते। इस परिधि के बाहर विचरण करने वाला प्रवाह इतना अधिक है, जिसकी तुलना में सुनाई देने वाले शब्दों को लाख-करोड़वाँ हिस्सा कह सकते हैं। इतनी स्वल्प-ध्वनि को सुन

सकने वाले कानों को शब्द सागर की कुछ बूँदों का ही अनुभव होता है। शेष के बारे में वे सर्वथा अनजान ही बने रहते हैं। इस अपूर्ण उपकरण के माध्यम से ध्वनि के माध्यम से विचरण करने वाले ज्ञान को सर्वथा स्वल्प ही कहा जा सकता है और उतने ही साधन से मिलने वाली जानकारी के आधार पर वस्तुस्थिति समझने का दावा नहीं कर सकते।

त्वचा के माध्यम से मिलने वाली जानकारी भी कानों की तरह ही अपूर्ण होती है, साथ ही भ्रांत भी। हाथ पर एक मिनट तक बर्फ रखे रहें, इसके बाद उसी हाथ को साधारण जल में डुबोएँ। लगेगा पानी गरम है। इसके बाद हाथ पर कुछ देर कोई गरम चीज रखे रहें, इसके बाद हाथ को उसी पानी में डुबाएँ, प्रतीत होगा पानी ठंडा है। जल एक ही तापमान का था, पर बर्फ अथवा गरम चीज रखने के बाद हाथ डुबाने पर अलग-अलग तरह के अनुभव हुए। ऐसी त्वचा की गवाही पर क्या भरोसा किया जाए, जो कुछ का कुछ बताती है। ठंड और गर्मी की न्यूनाधिकता का अंतर भी त्वचा एक सीमा तक ही बताती है। अत्यधिक गरम या अत्यधिक ठंडी वस्तु में तापमान या शीतमान का जो अंतर होता है, उसे त्वचा नहीं बता सकती। ऐसी सीमित शक्ति वाली त्वचा इंद्रिय के माध्यम से हम समग्र सत्य को समझ सकने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ?

अपनी आँखें सघन रात्रि में घोर अंधकार का अनुभव करती हैं, कुछ भी देख नहीं सकतीं, पर उसी स्थिति में उल्लू, चमगादड़, बिल्ली, चीता आदि प्राणी भली प्रकार से देखते हैं। विज्ञान कहता है कि जगत में प्रकाश सर्वत्र विद्यमान है। अंधकार नाम की कोई चीज इस दुनिया में नहीं है। मनुष्य की आँखें एक सीमा तक के ही प्रकाश कंपनों को देख पाती हैं, जब प्रकाश की गति मनुष्य की नेत्र शक्ति की सीमा से कम होती है तो उसे अंधकार प्रतीत होता है।

आकाश में अनेक रंगों के भिन्न-भिन्न गति वाले प्रकाश कंपन चलते रहते हैं। मनुष्य के नेत्र उसमें से केवल सात रंगों की स्वल्प प्रकाश तरंगों को ही अनुभव कर पाते हैं और शेष को देखने में

असमर्थ रहते हैं। पीलिया रोग हो जाने पर हर वस्तु पीली दीखती है। 'रैटिनाइटिस पिग मैंटोजा' रोग हो जाने पर एक सीधी रेखा धब्बे या बिंदुओं के रूप में दिखाई देती है। आकाश को ही लीजिये, वह हमें नीली चादर वाला गोलाकार पर्दे जैसा लगा दीखता है और लगता है उसमें समतल तारे टँके हुए हैं। पर क्या वह ज्ञान सही है ? क्या आकाश की सीमा उतनी ही है, जितनी आँखों से दीखती है ? क्या तारे उतने ही छोटे हैं, जितने कि आँखों को प्रतीत होते हैं ? क्या वे सब समतल बिछे हैं ? क्या आकाश का रंग वस्तुतः नीला है ? इन प्रश्नों का उत्तर खगोलशास्त्र के अनुसार नहीं हो सकता। पर इन आँखों को क्या कहा जाए, जो हमें यथार्थता से सर्वथा भिन्न प्रकार की जानकारी देती हैं और भ्रम में डालती हैं।

यही हाल नासिका का है। हमें कितनी ही वस्तुएँ गंधहीन लगती हैं। पर वस्तुतः उनमें गंध रहती है और उनके स्तर अगणित प्रकार के होते हैं। कुत्तों की नाक इस गंध स्तर की भिन्नता को समझती है और बिछुड़ जाने पर अपने घर तक उसे पहुँचा देती है। प्रशिक्षित कुत्ते इसी गंध के आधार पर चोरी हत्या आदि अपराध करने वालों को ढूँढ़ निकालते हैं। यही बात सुगंध-दुर्गंध के भेद भाव से संबंधित हैं। प्याज, लहसुन आदि की गंध कितनों को बड़ी अरुचिकर लगती है, भोजन में थोड़ी-सी भी पड़ जाने से मितली आती है, पर कितनों को इनके बिना भोजन में जायका नहीं आता। यही बात सिगरेट, शराब आदि की गंध के बारे में भी है, इन परिस्थितियों में नासिका के आधार पर यथार्थता का निर्णय कैसे किया जाय ?

जिह्वा स्वादों की जो अनुभूति कराती है—वह भी वस्तुस्थिति नहीं है। खाद्य पदार्थ के साथ मुख के स्राव मिलकर एक विशेष प्रकार का सम्मिश्रण बनाते हैं, उसी को मस्तिष्क स्वाद के रूप में अनुभव करता है। यदि वही वास्तविकता होती तो नीम के पत्ते मनुष्य की तरह ऊँट को भी कड़ुए लगते और वह भी उन्हें न खाता। ऊँट को नीम की पत्तियों का स्वाद मनुष्य की जिह्वा

अनुभूतियों से सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पदार्थों का वास्तविक स्वाद जीभ पकड़ नहीं पाती। भिन्न-भिन्न प्राणी अपनी जीभ बनावट के अनुसार उसका स्वाद अनुभव करते हैं। कच्चा मांस मनुष्य के लिए अरुचिकर होता है। पर इसी को मांसभोजी पशु बड़ी रुचिपूर्वक खाते हैं। मलीन वस्तुओं को मनुष्य की जीभ सहज स्वीकार नहीं कर सकती, पर शूकर को उसमें प्रिय स्वाद की अनुभूति होती है। मुँह में छाले हो जाने पर, बुखार या अपच रहने पर अथवा 'गुड़मार बूटी' खाकर रसना मूर्छित कर देने पर वस्तु के स्वाद का अनुभव नहीं होता। इस अधूरी जानकारी वाली जिह्वा इंद्रिय को सत्य की साक्षी के रूप में कैसे प्रामाणिक माना जाय ?

➢ अपनी-अपनी दुनिया

दुनिया वैसी ही नहीं—जैसी कि हम उसे देखते हैं। सच तो यह है कि संसार के समस्त पदार्थ कुछ विशेष प्रकार के परमाणुओं की भागती-दौड़ती हलचल मात्र हैं। हमारी आँखों की संरचना और मस्तिष्क का क्रिया-कलाप जिस स्तर का होता है, उसी प्रकार की वस्तुओं की अनुभूति होती है।

हमारी आँखें जैसा कुछ देखती हैं, आवश्यक नहीं दूसरों को भी वैसा ही दीखे। दृष्टि के मंद, तीव्र, रुग्ण, निरोग होने की दशा में दृश्य बदल जाते हैं। एक को सामने का दृश्य एक प्रकार का दीखता है, तो दूसरे को दूसरी तरह का। यही बात स्वाद के संबंध में है। रोगी के मुँह का जायका खराब होने के कारण हर वस्तु कड़वी लगती है। पेट भरा होने या अपच रहने पर स्वादिष्ट वस्तु का भी स्वाद बिगड़ जाता है। बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती, हर मनुष्य के स्रावों में कुछ न कुछ रासायनिक अंतर रहता है, जिसके कारण एक ही खाद्य पदार्थ का स्वाद हर व्यक्ति को दूसरे की अपेक्षा कुछ न कुछ भिन्न प्रकार का होता है। यों नमक, शकर आदि का स्वाद मोटे रूप से खारा या मीठा कहा जा सकता है, पर यदि

गंभीर निरीक्षण किया जाए तो प्रतीत होगा कि इस खारेपन और मिठास के इतने भेद-प्रभेद हैं जितने कि मनुष्य। किसी का स्वाद किसी से पूर्णतया नहीं मिलता, कुछ न कुछ भिन्नता रहती है। यही बात आँखों के संबंध में है। आँखों की संरचना और मस्तिष्क की बनावट में जो अंतर पाया जाता है, उसी के कारण एक मनुष्य दूसरे की तुलना में कुछ न कुछ भिन्नता के साथ ही वस्तुओं तथा घटनाओं को देखता है।

मनुष्यों और पक्षियों की आँखों की सूक्ष्म बनावट में एवं मस्तिष्कीय संरचना में काफी अंतर है। पक्षीगण वस्तुओं को उसी तरह नहीं देखते, जैसे कि हम देखते हैं। उन्हें हमारी अपेक्षा भिन्न तरह के रंग दिखाई पड़ते हैं।

रूस की पशु प्रयोगशाला ने बताया कि बैल को लाल रंग नहीं दीखता, उनके लिए सफेद और लाल रंग एक ही स्तर के होते हैं। इसी तरह मधु-मक्खियों को भी लाल और सफेद रंग का अंतर विदित नहीं होता। जुगनू सरीखे कीट-पतंग एक अतिरिक्त रंग 'अल्ट्रावायलेट' भी देखते हैं, जो मनुष्य की आँखें देख सकने में असमर्थ हैं। पक्षियों को लाल, नीला, पीला और हरा—यह चार रंग ही दीखते हैं। हमारी तरह वे न तो सात रंग देखते हैं और न उनके भेद-उपभेदों से ही परिचित होते हैं।

ठीक इसी प्रकार हरी घास की हरीतिमा सबको एक ही स्तर की दिखाई नहीं पड़ेगी। किंतु हमारी भाषा का अभी इतना विस्तार नहीं हुआ कि इस माध्यम से हर व्यक्ति को जैसा सूक्ष्म अंतर उस हरे रंग के बीच दिखाई पड़ता है, उसका विवरण बताया जा सके। यदि अंतर-प्रत्यंतर की गहराई में जाया जाए तो स्वाद और रंग के अंतर बढ़ते ही चले जायेंगे और अंततः यह मानना पड़ेगा कि जिस तरह हर मनुष्य की आवाज, शक्ल और प्रकृति में अंतर होता है, उसी प्रकार रंगों की अनुभूति में भी अंतर रहता है। स्वाद के संबंध में यही बात है। गंध में भी यही अंतर रहेगा। सुनने और छूने में भी

हर व्यक्ति को दूसरे से भिन्न प्रकार का अनुभव होता है। यह भिन्नता बहुत ही सूक्ष्म स्तर की होती है, पर होती अवश्य है।

सच तो यह है कि स्वाद की तरह रंगों की अनुभूति में भी हर मनुष्य का अनुभव एक-दूसरे से पूरी तरह नहीं मिलता और उसमें अंतर होता है। यह अंतर इतना सूक्ष्म होता है कि उसका वर्णन हमारी शब्दावली ठीक तरह से नहीं कर सकती। एक वस्तु की मिठास एक व्यक्ति को जैसी अनुभव होती है, दूसरे को उसकी अनुभूति जैसी होगी, उसमें अंतर रहेगा और अंतर इतना हल्का है कि सभी लोग गन्ने को 'मीठा' कह सकते हैं, पर इस मिठास को किसने, किस तरह के स्तर का अनुभव किया ? इसकी कोई सूक्ष्म परीक्षा व्यवस्था हो तो सहज ही यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक ने एक-दूसरे से काफी अंतर वाली मिठास चखी है। इसका कारण मुख में रहने वाले रासायनिक द्रवों की संरचना एवं मात्रा में अंतर होना होता है।

हमारी आँखें जिस वस्तु का जो रंग देखती हैं, क्या वस्तुतः वह उसी रंग की हैं ? हमारी आँखों को जिस वस्तु का जो रंग दीखता है, क्या अन्य जीवों को भी वैसा ही दीखता है ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर बेखटके 'नहीं' दिया जा सकता है।

तथ्य यह है कि वस्तुतः किसी पदार्थ का कोई रंग नहीं है। अणुओं की विशेष प्रकार की संरचना ही सघन होकर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं जैसी बनती है। अणुओं का कोई रंग नहीं। फिर रंगीनी क्या है ?

वस्तुएँ, सूर्य की केवल सफेद किरणों को आत्मसात करती हैं और उन किरणों के किसी एक रंग को प्रतिबिंबित करती हैं। पौधों की पत्तियाँ हरे रंग की इसलिए दीखती हैं कि वे सूर्य किरणों का हरा रंग पचा नहीं पातीं और उसको परावर्तित कर देती हैं। पत्तियों द्वारा किरणों का हरा रंग वापिस फेंक देना, यही है उनका हरा रंग दिखाई पड़ना।

तत्त्व ज्ञानियों का यह कथन एक दृष्टि से सर्वथा सत्य है कि—"हर मनुष्य की अपनी दुनिया है। वह उसकी अपनी बनाई हुई है और उसी में रमण करता है। दुनिया वस्तुतः कैसी है ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है कि वह जड़ परमाणुओं की नीरस और निर्मम हलचल मात्र है। यहाँ अणुओं की धूल बिखरी पड़ी है और वह किन्हीं प्रवाहों में बहती हुई इधर-उधर भगदड़ करती रहती है। इसके अतिरिक्त यहाँ ऐसा कुछ नहीं है, जिसे स्वादिष्ट-अस्वादिष्ट या रूपवान-कुरूप कहा जा सके। हमें नीम की पत्ती कड़वी लगती है, पर ऊँट उन्हें रुचिपूर्वक खाता है। संभव है, उसे वे पत्तियाँ बिस्कुट या मिठाई की तरह मधुर लगती हों। वस्तुतः कोई वस्तु न मधुर है न कड़वी। हमारी अपनी संरचना ही अमुक वस्तुओं के साथ तालमेल बिठाने पर जैसी कुछ उल्टी-पुलटी प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है, उसी आधार पर हम उसका रंग स्वाद आदि निर्धारण करते हैं।

यही बात प्रिय अथवा अप्रिय के संबंध में लागू होती है। अपने और बिराने के संबंध में भी अपनी ही दृष्टि और अपनी ही मान्यता काम करती है। वस्तुतः न कोई अपना है और न बिराना। इस दुनिया के आँगन में अगणित बालक खेलते हैं। इनमें से कभी कोई किसी के साथ हो लेता है, कभी प्रतिपक्षी का खेल खेलता है। इन क्षणिक संयोगों और संवेगों को बाल-बुद्धि जब बहुत अधिक महत्त्व देने लगती है तो प्रतीत होता है कि कुछ बहुत बड़ी अनुकूलता-प्रतिकूलता उत्पन्न हो गई है। हर्ष, शोक के आवेशों में घटनाक्रम उतना उत्तरदायी नहीं होता, जितना कि अपना मनःस्तर अथवा स्वयं सोचने का दृष्टिकोण। संत और चोर के—ज्ञानी और अज्ञानी के—दृष्टिकोण में एक ही स्थिति के संबंध में जो जमीन आसमान जैसा अंतर रहता है, उसका कारण पृथक्-पृथक् मनःस्थिति ही है। घटनाक्रम का उतना श्रेय या दोष नहीं।

संसार के स्वरूप निर्धारण में—उन्हें जानने-समझने में पाँच ज्ञानेंद्रियों की भाँति ही यह मनःसंस्थान के चार चेतना केंद्र भी काम

करते हैं। अतएव उन्हें भी अनुभूति उपकरणों में ही गिना गया है। हमारा समस्त ज्ञान इन्हीं उपकरणों के आधार पर टिका हुआ है।

मनुष्यों की भिन्न मनःस्थिति के कारण एक ही तथ्य के संबंध में परस्पर विरोधी मान्यताएँ एवं रुचियाँ होती हैं। यदि यथार्थता एक ही होती, तो सबको एक ही तरह के अनुभव होते। एक व्यक्ति अपराधों में संलग्न होता है, दूसरा परमार्थ परोपकार में। एक को भोग प्रिय है, दूसरे को त्याग। एक को प्रदर्शन में रुचि है, दूसरे को सादगी में। एक विलास के साधन जुटा रहा है, दूसरा त्याग पथ पर बढ़ रहा है। इन भिन्नताओं से यही सिद्ध होता है कि वास्तविक सुख-दुःख, हानि-लाभ कहाँ है ? किसमें है ? इसका निर्णय किसी सार्वभौम कसौटी पर नहीं मनःसंस्थान की स्थिति के आधार पर दृष्टिकोण के अनुरूप ही किया जाता है। यह सार्वभौम सत्य यदि प्राप्त हो गया तो संसार में मतभेदों की कोई गुंजायश न रहती। मनःसंस्थान जो अनुभव कराता है, उसमें भी इंद्रिय ज्ञान से कम नहीं वरन् अधिक ही भ्रांति भरी पड़ी है।

सुख और दुःख की अनुभूति सापेक्ष है। दूसरे की तुलना करके ही स्थिति के भले-बुरे का अनुभव किया जाता है। कोई मध्य स्थिति का व्यक्ति अमीर की तुलना में गरीब है। किंतु महादरिद्र की तुलना में वह भी अमीर है। ज्वर पीड़ित व्यक्ति स्वस्थ मनुष्य की तुलना में दुःखी है, पर कैंसरग्रस्त की तुलना में सुखी। शरीर पीड़ा की कुछ अनुभूतियों को छोड़कर शेष ९० प्रतिशत दुःख और सुख सापेक्ष होते हैं। उसी स्थिति में एक व्यक्ति अपने को सुखी अनुभव कर सकता है और दूसरा दुःखी। इन विभिन्न निष्कर्षों के आधार पर सत्य को पहचानना कठिन है।

संसार पदार्थों से बना है। पदार्थ अणुओं से बने हैं। अणु परमाणुओं से—परमाणु इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन आदि विखंडों से—और वे विखंड तरंगों के घनीभूत रूप हैं। विज्ञान बताता है कि यह जगत तरंगों का परिणाम है, तरंगमय है, तरंग ही है। शब्द, रूप रस, गंध,

स्पर्श की तन्मात्राएँ और विचार विवेचना, अभिव्यक्ति, अनुभूति अभिव्यंजना आदि के पीछे केवल तरंगें काम करती हैं। यहाँ तरंगों के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं है।

प्रकृति में परम सत्ता का निरंतर संयोग मिलन, संस्फुरण, आदान-प्रदान, आकर्षण-विकर्षण ही तरंगें बनकर गतिशील रहता है और वह गति ही पदार्थ बनकर सामने आती रहती है। जो दीखता है, उसके मूल में केवल स्फुरणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो प्रिय-अप्रिय है, उसमें आत्मानुभूति की मात्रा की घट-बढ़ की उथल-पुथल के अतिरिक्त और कहीं कुछ भी नहीं है। जड़-चेतन के समस्त परमाणु एक क्रमबद्ध प्रक्रिया के अनुरूप एक दिशा में चलते जा रहे हैं। उस प्रवाह का कोई चाहे तो समुद्र तट पर बैठकर उसकी हिलोरों का आनंद ले सकता है। भ्रमग्रस्त हर नई लहर के आने का लाभ और जाने की हानि समझता हुआ हँसने-रोने का प्रलाप कर सकता है। नियति का क्रम अपने ढंग से चलेगा, किसी के सोचने का तरीका क्या है, इसकी उसे परवाह नहीं। हांथी अपनी राह चलेगा ही, कुत्ते उसका स्वागत करें या दोष दिखाएँ, यह उनकी मर्जी। प्रकृति की स्वसंचालित व्याख्या हाथी की तरह ही चलेगी, यहाँ हर वस्तु का रूप बदलेगा। आज का सृजन, संयोग, कल विनाश एवं वियोग का रूप धारण करेगा। अपरिवर्तनवादी आकांक्षा अधूरी ही रहेगी। यहाँ स्थिरता के लिये कोई स्थान नहीं। जो संग्रह एवं स्थायित्व के अभिलाषी हैं, उन्हें निराशा भरे पश्चात्ताप के अतिरिक्त और क्या हाथ लगेगा ?

➢ दु:खों का कारण

वस्तु स्थिति को न जानने के कारण ही विविध भाँति के दु:ख-संताप उत्पन्न हुए। महर्षि वशिष्ठ ने भगवान राम को दु:खों का कारण अज्ञान बताते हुये उससे मुक्त होने का उपाय ज्ञान-साधना ही बताया है।

योगवाशिष्ठ का वचन है—

"आधयो व्याधयश्चैव
द्वय दुःखस्य कारणम्।
तन्निवृत्तिः सुखं विद्यात्
तत्क्षयो मोक्ष उच्यते।।"

अर्थात्—आधि, व्याधि—अर्थात् मानसिक और शारीरिक यह दो ही प्रकार के दुःख इस संसार में हैं। इनकी निवृत्ति विद्या अर्थात् ज्ञान द्वारा ही होती है। इस दुःख निवृत्ति का नाम ही मोक्ष है।

इस प्रकार इस न्याय से विदित होता है कि यदि मनुष्य जीवन से दुःखों का तिरोधान हो जाए तो वह मोक्ष की स्थिति में अवस्थित हो जाए। दुःखों का अत्यंत अभाव ही आनंद है। अर्थात् मोक्ष और आनंद एक-दूसरे के पर्याय हैं। इस प्रकार यदि जीवन के दुःखों को नष्ट किया जा सके तो आनंद वाली मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है। बहुत बार देखा जाता है कि लोग जीवन में अनेक बार आनंद प्राप्त करते हैं। वे हँसते, बोलते, खाते, खेलते, मनोरंजन करते, नृत्य-संगीत और काव्य-कलाओं का आनंद लेते, उत्सव-समारोह और पर्व मनाते, प्रेम पाते और प्रदान करते, गोष्ठी और सत्संगों में मोद-विनोद करते और न जाने इसी प्रकार से आमोद-प्रमोद पाते और प्रसन्न रहा करते हैं तो क्या उनकी इस स्थिति को मोक्ष कहा जा सकता है ?

नहीं, मनुष्य की इस स्थिति को मोक्ष नहीं कहा जा सकता। मोक्ष का आनंद स्थायी, स्थिर, अक्षय, समान, अहेतुक और निःशेष हुआ करता है। वह न कहीं से आता और न कहीं जाता है। न किसी कारण से उत्पन्न होता है और न किसी कारण से नष्ट होता है। वह आत्म-भूत और अहेतुक होता है। वह संपूर्ण रूप में मिलता है, संपूर्ण रूप में अनुभूत होता है। संपूर्ण रूप में सदा-सर्वदा ही बना रहता है। वह सार्वदेशिक, सर्वव्यापक और सर्वस्व सहित ही होता है। मोक्ष का आनंद पाने पर न तो कोई अंश शेष रह जाता है और

न उसके आगे किसी प्रकार के आनंद की इच्छा शेष रह जाती है। वह प्रकाशपूर्ण और परमावधिक ही होता है।

पूर्वोक्त लौकिक आनंदों में यह विशेषताएँ नहीं होतीं। उनकी प्राप्ति के लिए कारण और साधन की आवश्यकता होती है। वह किसी हेतु से उत्पन्न होता है और हेतु के मिट जाने पर नष्ट हो जाता है। इतना ही क्यों—यदि एक बार उसका आधार बना भी रहे तो भी उस आनंद में जीर्णता, क्षीणता, प्राचीनता और अरुचिता आ जाती है। लौकिक आनंदों की परिसमाप्ति दुःख में ही होती है। आज जो किसी कारण से प्रसन्न है, आनंदित है; वह कल किसी कारण से दुःखी होने लगता है। लौकिक आनंद की कितनी ही मात्रा क्यों न मिलती जाएँ, तथापि और अधिक पाने की प्यास बनी रहती है। उससे न तृप्ति मिलती है और न संतोष। जिस अनुभूति में अतृप्ति, असंतोष और तृष्णा बनी रहे, वह आनंद कैसा ! लौकिक आनंद के कितने ही सघन वातावरण में क्यों न बैठे हों ? एक छोटा-सा अप्रिय समाचार या छोटी-सी दुःखद बात उसे समूल नष्ट कर देती है। तब न किसी के मुख पर हँसी रह जाती है और न हृदय में पुलक ! लौकिक आनंद और मोक्षानंद की परस्पर तुलना ही नहीं की जा सकती।

लौकिक आनंदों में इस असफलता का कारण यह होता है कि वे असत्य एवं भ्रामक होते हैं। उनकी अनुभूति, प्रवंचना अथवा मृगतृष्णा के समान ही होती है। इस असत्यता का दोष ही लौकिक आनंद को निकृष्ट एवं अग्राह्य बना देते हैं। आनंद केवल आत्मिक आनंद ही होता है। मोक्ष का आनंद ही वास्तविक तथा अन्वेषणीय आनंद है। लौकिक आनंदों की अग्राह्यता का प्रतिपादन इसीलिये किया गया है कि जो व्यक्ति उसके झूठे प्रचलनों में फँस जाता है, उन्हें पकड़ने, पाने के लिये दौड़ता रहता है, उनको स्थिर और स्थायी बनाने में लगता है, वह अपना सारा जीवन इसी मायाजाल में उलझकर खो देता है। भ्रम में पड़े रहने के कारण उसे वास्तविकता का ध्यान ही नहीं

आता। लौकिक आनंदों के फेर में पड़कर जिसे वास्तविक आनंद का ध्यान ही न आयेगा, वह उसको पाने के लिये प्रयत्नशील भी क्यों होगा ? जिस हिरण को मरु- मरीचिका जल भ्रम में भुला लेती है, तन-मन से उसी को पकड़ने के पीछे पड़ा रहता है। अब पाया, अब पाया करता हुआ, वह निःसार दुराशा का यंत्र बना भटकता रहता है और इस प्रकार वास्तविक जल की खोज से वंचित हो जाता है। परिणाम यह होता है कि भटक-भटक कर प्यासा ही मर जाता है। जिस जीवन में वह पानी और परितृप्ति दोनों को पाकर कृतार्थ हो सकता था, वह जीवन यों ही चला जाता है, नष्ट हो जाता है। यही हाल लौकिक आनंदवासियों का होता है। जिस जीवन में वे मोक्ष और उसका वास्तविक सुख प्राप्त कर सकते हैं, वे उसे माया छाया और भ्रामक सुख की मरीचिका में नष्ट कर अपनी अनंत हानि कर लेते हैं। इसलिए लौकिक सुखों को प्रबलता के साथ अग्राह्य एवं गर्हित बताया गया है। वास्तविक आनंद लौकिक लिप्साओं और सांसारिक भोग-विलासों में नहीं है, वह मोक्ष और मोक्ष की स्थिति में है। उसी को पाने का प्रयत्न करना चाहिए, वही मानव जीवन का लक्ष्य है, उसी में शांति और तृप्ति मिलेगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दुःख तो दुःख ही है। सांसारिक सुख भी दुःख का एक स्वरूप है। इनकी निवृत्ति से ही सच्चे सुख की प्राप्ति संभव है। किंतु इनकी निवृत्ति का उपाय क्या है ? इसके लिये पुनः योगवाशिष्ठ में कहा गया है—

"ज्ञानान्निर्दुःखतामेति
ज्ञानादज्ञान संक्षयः।
ज्ञानादेव परासिद्धि
नान्यस्याद्राम वस्तुतः।।"

—हे राम ! ज्ञान से ही दुःख दूर होते हैं, ज्ञान से अज्ञान का निवारण होता है, ज्ञान से ही परम सिद्धि होती है और किसी उपाय से नहीं।

और भी आगे बताया गया है—

"प्रज्ञां विज्ञात विज्ञेय
सम्यग् दर्शनमाधयः।
न दहन्ति वनं वर्षा
सित्तमग्निशिखा इव।"

—जिसने जानने योग्य को जान लिया है और विवेक दृष्टि प्राप्त कर ली है, उस ज्ञानी को दु:ख उसी प्रकार त्रासक नहीं होते, जिस प्रकार वर्षा से भीगे जंगल को अग्नि-शिखा नहीं जला पाती।

➢ तत्वज्ञान क्या है ?

अब यहाँ पर ज्ञान का स्वरूप जानने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि आखिर दु:ख की उत्पत्ति होती किन कारणों से है ? वैसे तो जीवात्मा अपने मूल रूप में आनंदमय है। तब अवश्य ही कोई कारण ऐसा होना चाहिए, जो उसके लिये दु:ख की सृष्टि करता है। उसको भी योगवाशिष्ठ में इस प्रकार बताया गया है—

"देह दु:ख विदुर्व्याधि
माध्याख्यं मानसामयम्।
मौर्ख्य मूले हते विद्या
तत्त्वज्ञाने परीक्षयः।।"

—शारीरिक दु:खों को व्याधि और मानसिक दु:खों को आधि कहते हैं। यह दोनों मौर्ख्य अज्ञान से ही उत्पन्न होती है और ज्ञान से नष्ट होती हैं।

संसार के सारे दु:खों का एकमात्र हेतु अविद्या अथवा अज्ञान ही है। जिस प्रकार प्रकाश का अभाव अंधकार है और अंधकार का अभाव प्रकाश होता है, उसी प्रकार ज्ञान का अभाव अज्ञान और अज्ञान का अभाव ज्ञान होना स्वाभाविक ही है एवं जिस प्रकार ज्ञान का परिणाम सुख-शांति और आनंद है, उसी प्रकार अज्ञान का फल दु:ख, अशांति और शोक-संताप होना ही चाहिए।

यह युग-युग का अनुभूत तथा अन्वेषित सत्य है कि दुःखों की उत्पत्ति अज्ञान से ही होती है और संसार के सारे विद्वान चिंतक एवं मनीषीजन इस बात पर एकमत पाए जाते हैं। इस प्रकार सार्वभौमिक और सार्वजनिक रूप से प्रतिपादित तथ्य में संदेह की गुंजायश रह ही नहीं। चाणक्य ने अपनी सचेत करती सारगर्भित टिप्पणी में लिखा है—"अज्ञान के समान मनुष्य का और कोई दूसरा शत्रु नहीं है।" विश्वविख्यात दार्शनिक प्लेटो ने कहा है—"अज्ञानी रहने से जन्म न लेना ही अच्छा है, क्योंकि अज्ञान ही समस्त विपत्तियों का मूल है।" शेक्सपियर ने अज्ञानजनित दोषों की ओर संकेत करते हुए लिखा है—'अज्ञान ही अंधकार है।'

जीवन की समस्त विकृतियों, अनुभव होने वाले दुःखों, उलझनों और अशांति आदि का मूल कारण मनुष्य का अपना अज्ञान ही होता है। यही मनुष्य का परम शत्रु है। अज्ञान के कारण ही मनुष्य भी अन्य जीव-जंतुओं की तरह अनेक दृष्टियों से हीन अवस्था में ही पड़ा रहता है। ज्ञान के अभाव में जिनका विवेक मंद ही बना रहता है, उनके जीवन के अंधकार में भटकते हुए तरह-तरह के त्रास आते रहते हैं। अज्ञान के कारण ही मनुष्य को वास्तविक कर्त्तव्यों की जानकारी नहीं हो पाती, इसलिये वह गलत मार्गों पर भटक जाता है और अनुचित कर्म करता हुआ दुःख का भागी बनता है। इसलिए दुःखों से निवृत्ति पाने के लिए यदि उनके कारण अज्ञान को मिटा दिया जाए तो निश्चय ही मनुष्य सुख का वास्तविक अधिकारी बन सकता है।

अज्ञान का निवारण ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। शीत उसकी विपरीत वस्तु आग द्वारा ही दूर होता है। अंधकार की परिसमाप्ति प्रकाश द्वारा ही संभव है। इसलिये ज्ञान प्राप्ति का जो भी उपाय संभव हो उसे करते ही रहना चाहिए।

ज्ञान का सच्चा स्वरूप क्या है ? केवल कतिपय जानकारियों को ही ज्ञान नहीं माना जा सकता। सच्चा ज्ञान वह है, जिसको पाकर मनुष्य आत्मा, परमात्मा का साक्षात्कार कर सके। अपने

साथ अपने इस संसार को पहचान सके। उसे सत् और असत् कर्मों की ठीक-ठीक जानकारी रहे और वह जिसकी प्रेरणा से असत् मार्ग को त्यागकर सन्मार्ग पर असंदिग्ध रूप से चल सके। कुछ शिक्षा और दो-चार शिल्पों को ही सीख लेना भर अथवा किन्हीं उलझनों को सुलझा लेने भर की बुद्धि ही ज्ञान नहीं है। ज्ञान वह है, जिससे जीवन-मरण, बंधन-मुक्ति, धर्म-अधर्म और सत्य-असत्य का न केवल निर्णय ही किया जा सके, बल्कि ग्रहणीय को पकड़ा और अग्राह्य को छोड़ा जा सके, वह ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान ही है।

अज्ञान की स्थिति में कर्मों का क्रम बिगड़ जाता है। संसार में जितने भी सुख-दुःख आदि द्वंद्व हैं, वे सब कर्मों के फल होते हैं। अज्ञान द्वारा पापकर्म होना स्वाभाविक ही है और तब उनका दंड मनुष्य को भोगना ही पड़ता है। इतना ही क्यों सकाम भाव से किये गये सत्कर्म सुख के फल रूप में परिपक्व होते हैं और असत्य होने से कुछ ही समय में दुःख रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इसलिये कर्म ही अधिकतर बंधनों अथवा दुःखों को मनुष्य पर आरोपित कराते हैं।

❒ ❒

सुख का केंद्र और स्रोत आत्मा

किसी की यह धारणा सर्वथा मिथ्या है कि सुख का निवास किन्हीं पदार्थों में है। यदि ऐसा रहा होता तो वे सारे पदार्थ जिन्हें सुखदायक माना जाता है, सबको समान रूप से सुखी और संतुष्ट रखते अथवा उन पदार्थों के मिल जाने पर मनुष्य सहज ही सुख-संपन्न हो जाता, किंतु ऐसा देखा नहीं जाता। संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जिन्हें संसार के वे सारे पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, जिन्हें सुख का संराधक माना जाता है। किंतु ऐसे संपन्न व्यक्ति भी असंतोष, अशांति, अतृप्ति अथवा शोक संतापों से जलते देखे जाते हैं। उनके उपलब्ध पदार्थ उनका दुःख मिटाने में जरा भी सहायक नहीं हो पाते।

वास्तविक बात यह है कि संसार के सारे पदार्थ जड़ होते हैं। जड़ तो जड़ ही है। उसमें अपनी कोई क्षमता नहीं होती। न तो जड़ पदार्थ किसी को स्वयं सुख दे सकते हैं और न दुःख, क्योंकि उनमें न तो सुखद तत्त्व होते हैं और न दुःखद तत्त्व और न उनमें सक्रियता ही होती है, जिससे वे किसी को अपनी विशेषता से प्रभावित कर सकें। यह मनुष्य का अपना आत्म-तत्त्व ही होता है, जो उससे संबंध स्थापित करके उसे सुखद या दुःखद बना लेता है। आत्म तत्त्व की उन्मुखता ही किसी पदार्थ को किसी के लिये सुखद और किसी के लिये दुःखद बना देती है।

जिस समय मनुष्य का आत्म-तत्त्व सुखोन्मुख होकर पदार्थ से संबंध स्थापित करता है, वह सुखद बन जाता है और जब आत्म तत्त्व दुःखोन्मुख होकर संबंध स्थापित करता है, तब वही पदार्थ उसके लिये दुःखद बन जाता है। संसार के सारे पदार्थ जड़ हैं, वे अपनी ओर से न तो किसी को सुख दे सकते हैं और न दुःख। यह मनुष्य का अपना आत्म-तत्त्व ही होता है, जो संबंधित

होकर उनको दु:खदायी अथवा सुखदायी बना देता है। यह धारणा कि सुख की उपलब्धि पदार्थों द्वारा होती है, सर्वथा मिथ्या और अज्ञातपूर्ण है।

किंतु खेद है कि मनुष्य अज्ञानवश सुख-दु:ख के इस रहस्य पर विश्वास नहीं करते और सत्य की खोज संसार के जड़-पदार्थों में किया करते हैं। पदार्थों को सुख का दाता मानकर उन्हें ही संचय करने में अपना बहुमूल्य जीवन बेकार में गवाँ देते हैं। केवल इतना ही नहीं कि वे सुख आत्मा में नहीं करते बल्कि पदार्थों के चक्कर में फँसकर उनका संचय करने के लिये अकरणीय कार्य तक किया करते हैं। झूँठ, फरेब, मक्कारी, भ्रष्टाचार, बेईमानी आदि के अपराध और पाप तक करने में तत्पर रहते हैं। सुख का निवास पदार्थों में नहीं, आत्मा में है। उसे खोजने और पाने के लिये पदार्थों की ओर नहीं आत्मा की ओर उन्मुख होना चाहिए।

पदार्थों का उपभोग इंद्रियों द्वारा होता है। इंद्रियों के सक्रिय और सजीव होने से ही किसी रस, सुख अथवा आनंद की अनुभूति होती है। जब तक मनुष्य सक्षम अथवा युवा बना रहता है, उसकी इंद्रियाँ सतेज बनी रहती हैं। पदार्थ और विषयों का आनंद मिलता रहता है, पर जब मनुष्य वृद्ध अथवा अशक्त हो जाता है—उन्हीं पदार्थों में जिनमें पहले विभोर कर देने वाला आनंद मिलता था, एकदम नीरस और स्वादहीन लगने लगते हैं। उनका सारा सुख न जाने कहाँ विलीन हो जाता है ? वास्तविक बात यह है कि अशक्तता की दशा अथवा वृद्धावस्था में इंद्रियाँ निर्बल तथा अनुभवशीलता से शून्य हो जाती हैं। उनमें किसी पदार्थ का रस लेने की शक्ति नहीं रहती। इंद्रियों का शैथिल्य ही पदार्थों को नीरस, असुखद तथा नि:सार बना देता है।

वृद्धावस्था ही क्यों ? बहुत बार यौवनावस्था में भी सुख की अनुभूतियाँ समाप्त हो जाती हैं। इंद्रियों में कोई रोग लग जाने अथवा उनको चेतनाहीन बना देने वाली कोई घटना घटित हो जाने पर भी उनकी रसानुभूति की शक्ति नष्ट हो जाती है। जैसे रसेंद्रिय

जिह्वा में छाले पड़ जाएँ तो मनुष्य कितने ही सुस्वाद पदार्थों का सेवन क्यों न करें, उसमें किसी प्रकार का आनंद न मिलेगा। पाचन-क्रिया निर्बल हो जाए तो कोई भी पौष्टिक पदार्थ बेकार हो जाएगा। आँखें विकार युक्त हो जाएँ तो सुंदर से सुंदर दृश्य भी कोई आनंद नहीं दे पाते। इस प्रकार देख सकते हैं कि सुख पदार्थ में नहीं बल्कि इंद्रियों की अनुभूति शक्ति में है।

अब देखना यह है कि इंद्रियों की शक्ति क्या है ? बहुत बार ऐसे लोग देखने को मिलते हैं, जिनकी आँखें देखने में सुंदर स्वच्छ तथा विकारहीन होती हैं, लेकिन उन्हें दिखलाई नहीं पड़ता। परीक्षा करने पर पता चलता है कि आँखों का यंत्र भी ठीक है उनमें आने-जाने वाली नस-नाड़ियों की व्यवस्था भी ठीक है, तथापि दिखलाई नहीं देता। इसी प्रकार अन्य इंद्रियाँ, हाथ-पाँव, नाक-कान आदि की भी दशा हो जाती है। सब तरफ से सब वस्तुएँ ठीक होने पर भी इंद्रिय निष्क्रिय अथवा निरनुभूति ही रहती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि रस की अनुभूति इंद्रियों की स्थूल बनावट से नहीं होती। बल्कि इससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है, जो रस की अनुभूति कराती है। वह वस्तु क्या है ? वह वस्तु है चेतना, जो सारे शरीर और मन प्राण में ओत-प्रोत रहकर मनुष्य की इंद्रियों को रसानुभूति की शक्ति प्रदान करती है। इसी सब ओर से शरीर में ओत-प्रोत चेतना को आत्मा कहते हैं। आनंद अथवा सुख का निवास आत्मा में ही है। उसी की शक्ति से उसकी अनुभूति होती है और वही जीव रूप में उसका अनुभव भी करती है। सुख न पदार्थों में है और न किसी अन्य वस्तु में। वह आत्मा में ही जीवात्मा द्वारा अनुभव किया जाता है।

मनुष्य की अपनी आत्मा ही सब कुछ है। आत्मा से रहित वह एक मिट्टी का पिंड मात्र ही है। शरीर से जब आत्मा का संबंध समाप्त हो जाता है तो वह मुर्दा हो जाता है, शीघ्र ही उसे बाहर करने और जलाने-दफनाने का प्रबंध किया जाता है। संसार के सारे संबंध आत्मा द्वारा ही संबंधित हैं। जब तक जिसमें आत्मभाव

बना रहता है, उसमें प्रेम और सुख आदि की अनुभूति बनी रहती है और जब वह आत्मीयता समाप्त हो जाती है, वही वस्तु या व्यक्ति अपने लिये कुछ भी नहीं रह जाता। किसी को अपना मित्र बड़ा प्रिय लगता है। उससे मिलने पर हार्दिक आनंद की उपलब्धि होती है। न मिलने से बेचैनी होती है। किंतु जब किन्हीं कारणोंवश उससे मैत्री-भाव समाप्त हो जाता है अथवा आत्मीयता नहीं रहती है तो मित्र अपने लिए, एक सामान्य व्यक्ति बन जाता है। उसके मिलने न मिलने में किसी प्रकार का हर्ष विवाद नहीं होता। बहुत बार तो उससे इतनी विमुखता हो जाती है कि मिलने अथवा दिखने पर अन्यथा अनुभव होता है। प्रेम, सुख और आनंद की सारी अनुभूतियाँ आत्मा से ही संबंधित होती हैं, किसी वस्तु, विषय, व्यक्ति अथवा पदार्थ से नहीं। सुख का संसार आत्मा में ही बसा हुआ है। उसे उसमें खोजना चाहिये। सांसारिक विषयों अथवा वस्तुओं में भटकते रहने से वही दशा और परिणाम सामने आयेगा, जो मरीचिका में भूले मृग के सामने आता है।

मनुष्य की अपनी विशेषता ही उसके लिये उपयोगिता तथा स्नेह सौजन्य उपार्जित करती है। विशेषता समाप्त होते ही मनुष्य का मूल्य भी समाप्त हो जाता है और तब वह न तो किसी के लिए आकर्षक रह जाता है और न प्रिय ! इस बात को समझने के लिए सबसे अधिक निकट रहने वाले माँ और बच्चे को ले लीजिये। माता से जब तक बच्चा दूध और जीवन रस पाता रहता है, उसके शरीर से अवयव की तरह चिपटा रहता है। उसे माँ से असीम प्रेम होता है। जरा देर को भी वह माँ से अलग नहीं हो सकता। माँ उसे छोड़कर कहीं गई नहीं कि वह रोने लगता है। किंतु जब इसी बालक को अपनी सुरक्षा तथा जीवन के लिये माँ की गोद और दूध की आवश्यकता नहीं रहती अथवा रोग आदि के कारण माँ की यह विशेषता समाप्त हो जाती है तो बच्चा उसकी जरा भी परवाह नहीं करता। वह अलग भी रहने लगता है और स्तन के स्थान पर शीशी

से ही बहल जाता है। मनुष्य की विशेषताएँ ही किसी के लिए स्नेह, सौजन्य अथवा प्रेम आदि की सुखदायक स्थितियाँ उत्पन्न करती हैं।

किंतु मनुष्य की इस विशेषता का स्रोत क्या है ? इसका स्रोत भी आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं है। बताया जा चुका है कि आत्मा से असंबंधित मनुष्य शव से अधिक कुछ नहीं होता। जो शव है, मुर्दा है अथवा अचेतन या जड़ है, उनमें किसी प्रकार की प्रेमोत्पादक विशेषता के होने का प्रश्न ही नहीं उठता। मनुष्य के मन, प्राण और शरीर तीनों का संचालन, नियंत्रण तथा पोषण आत्मा की सूक्ष्म सत्ता द्वारा ही होता है। आत्मा और इन तीनों के बीच जरा-सा व्यवधान आते ही सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है। सुंदर, सुगठित और स्वस्थ शरीर की दुर्दशा हो जाती है। प्राणों का स्पंदन तिरोहित होने लगता है और मन मतवाला होकर मनुष्य को उन्मत्त और पागल बना देता है।

ऐसी भयावह स्थिति में संसार का कोई व्यक्ति, कोई आत्मीय और कोई स्वजन संबंधी न तो प्रेम कर सकता है और न स्नेह-सौजन्य के सुखद भाव ही प्रदान करता है। यह केवल मनुष्य की अपनी आत्मा ही है, जो उसका सच्चा मित्र, सगा-संबंधी और वास्तविक शक्ति है। इसी के कारण मनुष्य गुणों और विशेषताओं का स्वामी बनकर अपना मूल्य बढ़ाता और पाता है। जीवन में सुख, सौख्य के उत्पादन, अभिवृद्धि और रक्षा के लिये मनुष्य को चाहिए कि वह आत्मा की ही शरण रहे। उसे ही अपना माने, उससे ही प्रेम करे और उसे ही खोजने-पाने में अपने जीवन की सार्थकता समझे।

सुख का निवास किसी व्यक्ति, विषय अथवा पदार्थ में नहीं है। उसका निवास आत्मा में ही है। संसार के सारे पदार्थ जड़ और प्रभावहीन हैं। किसी को सुख-दु:ख देने की उनमें अपनी क्षमता नहीं होती। पदार्थों अथवा विषयों में सुख-दु:ख का आभास उनके प्रति आत्म-भाव के कारण ही होता है। आत्म-भाव समाप्त हो जाने पर वह अनुभूति भी समाप्त हो जाती है। हमारी आत्मा ही विभिन्न पदार्थों पर अपना प्रभाव डालकर उन्हें आकर्षक तथा सुखद बनाती

है। अन्यथा संसार के सारे विषय, सारी वस्तुएँ, सारे पदार्थ और सारे भोग नीरस, निःसार तथा निरुपयोगी हैं। जड़ होने से सभी कुछ कुरूप तथा अग्राह्य हैं।

जिस पदार्थ के साथ जितने अंशों में अपनी आत्मा घुली-मिली रहती है, उतने ही अंशों में वह पदार्थ प्रिय, सुखदायी और ग्रहणीय बनता रहता है और आत्मा का संबंध जिस पदार्थ से जितना कम होता जाता है, वह उतना ही अपने लिये कुरूप और अप्रिय बनता जाता है। आनंद और प्रियता का संबंध पदार्थों से नहीं, स्वयं आत्मा से ही होता है। अस्तु, आत्मा को ही प्यार करना चाहिये, उसे ही तेजस्वी और प्रभावशील बनाना चाहिए, जिससे हमारा संबंध उसी से दृढ़ हो और उसके उपलक्ष से ही संसार को प्रेम और सुख दे सकें। हमारी अपनी आत्मा ही ज्ञान-विज्ञान का केंद्र है। सुख-शांति का मूल आधार है। उन्नति और समृद्धि का बीज उसी में छिपा है, स्वर्ग और मुक्ति का आधार वहीं है। कल्पवृक्ष बाहर नहीं, अपनी आत्मा में ही अवस्थित है, आत्मा में ही सब कुछ है और आत्मा स्वयं ही सब कुछ है। उसे ही सर्वस्व और सारे सुखों का मूल और शांति का स्रोत मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये। जिसने आत्मा को अपना बना लिया, उसने मानो संसार को अपना बना लिया। जिसने आत्मा को देख लिया, उसने सब कुछ देख लिया और जिसने आत्मा को प्राप्त कर लिया, उसने निश्चय ही सारे सुख, सारे सौख्य और सारे रस, आनंद एक साथ एक स्थान पर सदा के लिये पा लिए।

आत्मा में केंद्रित प्रियता को वस्तुओं में खोजना अबुद्धिमत्ता ही है। जड़-पदार्थों में न कुछ सुखद है और न दुःखद। इस तथ्य की थोड़ी-सी खोजबीन करने पर सहज ही जाना जा सकता है और सुख के लिए—प्रिय पात्रता के लिए कस्तूरी मृग की तरह बाहर मारे-मारे फिरने की अपेक्षा अंतर्मुखी हुआ जा सकता है। तिनके के पीछे ताड़ छिपा होने के इसी आश्चर्य को माया कहा जाता है। माया और कुछ नहीं, केवल वह अज्ञान है, जो बाहरी-

मोटी-सामने की तात्कालिक बातों को ही देखता है और कुछ गहराई में उतर कर वस्तुस्थिति समझने का कष्ट उठाने के लिए तत्पर नहीं होता।

तत्त्वदर्शी ऋषियों के अनंत सुख-शांति की ओर अंगुलि-निर्देश करते हुए कहा है—'अन्वेषक प्रकाश को भीतर की ओर मोड़ दो।' कालाईल प्रभृति पाश्चात्य दार्शनिक भी यही करते रहे हैं—'टर्न द सर्च लाइट इनवार्डस्'।

वस्तुओं और व्यक्तियों में कोई आकर्षण नहीं है। अपनी आत्मीयता जिस किसी से भी जुड़ जाती है, वही प्रिय लगने लगता है, यह तथ्य कितना स्पष्ट किंतु कितना गुप्त है, लोग अमुक व्यक्ति या अमुक वस्तु को रुचिकर मधुर मानते हैं और उसे पाने, लिपटाने के लिए आकुल-व्याकुल रहते हैं। प्राप्त होने पर वह व्याकुलता जैसे ही घटती है, वैसे ही वह आकर्षण तिरोहित हो जाता है। किसी कारण यदि ममत्व हट या घट जाए तो वही वस्तु जो कल तक अत्यधिक प्रिय प्रतीत होती थी और जिसके बिना सब कुछ नीरस लगता था, वह बेकार और निकम्मी लगने लगेगी। वस्तु या व्यक्ति वही किंतु प्रियता में आश्चर्यजनक परिवर्तन बहुधा होता रहता है। इसका कारण एक मात्र यही है कि उधर से ममता का आकर्षण कम हो गया।

यह तथ्य यदि समझ लिया जाए तो ममता का आरोपण करके किसी भी वस्तु या व्यक्ति को कितने ही समय तक प्रिय पात्र बनाए रखा जा सकता है। यदि यह आरोपण क्षेत्र बड़ा बनाते चलें तो अपने प्रिय पात्रों की मात्रा एवं संख्या आश्चर्यजनक रीति से बढ़ती चली जायेगी और जिधर भी दृष्टि डाली जाए उधर ही रुचिकर मधुर बिखरा पड़ा दिखाई देगा और जीवन क्रम में आशाजनक आनंद, उल्लास कर जाएगा। आत्मविद्या के इस रहस्य को जानकर भी लोग अनजान बने रहते हैं। आनंद की खोज में—प्रिय पात्रों के पीछे मारे-मारे फिरते हैं। यदि इस माया-मरीचिका को छोड़ दिया जाए, जिसे प्रिय पात्र बनाना हो उसी पर ममता

बखेर दी जाए तो केवल वही व्यक्ति प्रियपात्र रह जायेंगे जिनकी घनिष्ठता, समीपता, मित्रता वस्तुतः हितकर है।

बिछुड़ने एवं खोने पर प्रायः दुःख होता है। यदि समझ लिया जाए कि मिलन की तरह वियोग-जन्म की तरह मृत्यु भी अवश्यंभावी है तो उसके लिए पहले से ही तैयार रहा जा सकता है। साँस लेते समय भी यह विदित रहता है कि उसे कुछ ही क्षण पश्चात् छोड़ना पड़ेगा, इसलिए श्वांस-प्रश्वांस की दोनों क्रियाएँ समान प्रतीत होती हैं। न एक में दुःख होता न दूसरी में सुख। एक का मरण दूसरे का जन्म है। मृत्यु के रुदन के साथ ही किसी घर का जन्मोत्सव बँधा हुआ है। व्यापार में एक को नफा, तब होता है जब दूसरे को घाटा पड़ता है। धूप-छाँह की तरह, दिन-रात की तरह, सर्दी-गर्मी की तरह, यदि मिलन-बिछोह और हानि-लाभ को परस्पर एक-दूसरे के साथ अविच्छिन रूप से मानकर चला जाए तो राग-द्वेष एवं हानि लाभ के सामान्य सृष्टि क्रम में न कुछ प्रिय लगे, न अप्रिय। हमारा अज्ञान ही है, जो अकारण हर्षोन्मत्त एवं शोक संतप्त आवेश के ज्वार-भाटे में उछलता-भटकता रहता है। यदि मायाबद्ध अशुभ चिंतन से छुटकारा मिल जाय और सृष्टि के अनवरत जन्म, वृद्धि, विनाश के अनिवार्य क्रम को समझ लिया जाए तो मनुष्य शांत, संतुलित, स्थिर संतुष्ट एवं सुखी रह सकता है। ऐसी देवोपम मनोभूमि पल-पल स्वर्गीय जीवन की सुखद संवेदनाएँ सम्मुख प्रस्तुत किये रह सकता है। चिंतन में समाया हुआ माया विकार ही है, जो समुद्र तट पर वैठे अज्ञानी बालक के, ज्वार से प्रसन्न और भाटा से अप्रसन्न होने की तरह हमें उद्विग्न बनाए रहता है।

मल-मूत्र की गठरी के ऊपर प्रकृति ने एक आकर्षण-खोल चढ़ाया हुआ है, ताकि वह घृणित पिटारा सर्वत्र दुर्गंध बखेरता फिरे। लोग इस आवरण पर मुग्ध हो जाते हैं, रूप, यौवन पर लट्टू होते हैं। सौंदर्य की शाश्वत प्यास सुकोमल पुष्प से लेकर, बाल-सुलभ भोलेपन तक से सर्वत्र सहज ही तृप्त की जा सकती, पर विकारी

दृष्टि के साथ जुड़ी हुई कामुक-लिप्सा नर-नारियों को बेतरह उद्विग्न करती रहती है और उन्हें न चलने योग्य मार्ग पर चलाती है। मूत्र त्याग के घृणित अंगों की तनिक-सी खुजली न जाने किससे क्या-क्या नहीं करा लेती ? यदि मोहांध दृष्टि का पर्दा उठ सका होता तो शारीरिक रूप, यौवन की—यौन-लिप्सा की मदोन्मत्तता का नशा सहज ही उतर जाता और पंचभूतों से बने जड़-कलेवर के पीछे आत्मा की ज्योति जगमगाती दीखती। कामुकता का स्थान पवित्र प्रेम भावनाओं ने ग्रहण कर लिया होता और नर-नारी के बीच के संबंध प्रकृति और पुरुष की तरह एक-दूसरे के पूरक बनकर श्रेय साधन में संलग्न रहे होते। आज का नारकीय दांपत्य जीवन तब स्वर्गीय सुषमा बखेर रहा होता। ऐसे उच्च आदर्शों को आधार मानकर बनाये गये गृहस्थ तब स्वर्ग की प्रतिमूर्ति बनकर धरती का आनंद, उल्लास से भर रहे होते और नर-रत्नों की पीढ़िया सृजी जातीं। यह पिशाचिनी माया ही है, जिसने रूप, सौंदर्य को परखने की दृष्टि दोष उत्पन्न करके आत्मतत्त्व को तिरस्कृत और चमड़ी की चमक को गौरव प्रदान किया है।

अपना स्वरूप, अपना लक्ष्य, अपना कर्त्तव्य यदि मनुष्य समझ सका होता तो उसका चिंतन और कर्त्तव्य अत्यंत उच्चकोटि का होता, ऐसे नर को नारायण कहा जाता और उसके चरण जहाँ भी पड़ते वहाँ धरती धन्य हो जाती। पर अज्ञान के आवरण को क्या कहा जाए ? जिसने हमें नर-पशु के स्तर पर देखने और उसी प्रकार की रीति-नीति अपनाने के लिए निकृष्टता के गर्त में धकेल दिया है। माया का यही आवरण हमें नारकीय यातनाएँ सहन करते हुए रोता, कलपता जीवन व्यतीत करने के लिए विवश करता है।

संसार को जैसा कि हम देखते, समझते हैं; वह प्रचलित भ्रांत धारणाओं पर और मस्तिष्क सहित इंद्रियों के ज्ञान पर आधारित है। यदि हम एक बार इन दोनों आधारों की अप्रामाणिकता और अक्षमता को स्वीकार कर लें तथा नये सिरे से अपने संबंध में,

संबंधित व्यक्तियों तथा पदार्थों के संबंध में, समस्त विश्व ब्रह्मांड के संबंध में नये तर्कपूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करना आरंभ करें तो तथ्य बिलकुल दूसरे ही स्तर के सामने आवेंगे और वही प्रतिपादन सोलहों आने सत्य सिद्ध होगा, जिसे वेदांत दर्शन में निर्धारित किया गया है।

जिस प्रकार हर प्रभात को हम जगते हैं और हर रात को गहरी नींद में सोते हैं, ठीक उसी प्रकार थोड़ी अधिक विस्तृत भूमिका में जन्म और मरण की प्रक्रिया चलती रहती है। सूर्य हर दिन डूबता-उगता है। जीवन भी नियत अवधि में उत्पन्न और समाप्त होता रहता है। जिस तरह एक के बाद दूसरे दिन का लंबा जीवनयापन चलता रहता है, उसी प्रकार एक जन्म के बाद दूसरे जन्म की शृंखला चलती है। इसमें न कोई दुःख की बात है, न शोक की, न डर की। यह तथ्य यदि सामने प्रस्तुत रहे तो फिर जीवन की लंबी शृंखला की योजना इसे ध्यान में रखकर ही बनाई जानी चाहिये। यदि भावी जीवन को उज्ज्वल बनाने की संभावना सामने हो तो उनके लिये एक दिन के कष्ट, कठिनाई से व्यतीत करने की बात किसी को अखरती नहीं। ऐसी भूल भी कोई समझदार आदमी नहीं कर सकता कि एक दिन शौक-मौज मनाने के लिये कोई ऐसा अवांछनीय कार्य कर डाला जाए, जिसके लिए जीवन के शेष समस्त दिन विपत्ति में फँसकर व्यतीत करने पड़ें। मनुष्य-जीवन की भोजन व्यवस्था बनाते समय भी यदि यही रीति-नीति अपनाई जा सके तो समझना चाहिये कि अनंत जीवनों की जुड़ी हुई शृंखला का स्वरूप समझ लिया गया। ऐसी दशा में न वस्तुओं से लोभ हो सकता है और न व्यक्तियों से मोह; तब केवल वस्तुओं के सदुपयोग और व्यक्तियों के प्रति कर्तव्य पालन का भाव ही मन में उठता रह सकता है।

एक जन्म को ही पूरा जीवन मान बैठने से मनुष्य आज ही जी भरकर शौक-मौज करने के लिये आतुर होता है और भविष्य अंधकारमय बनाता है। यदि अनंत जीवन में एक-एक जन्म को एक

दिन की तरह नगण्य महत्त्व का माना जाए तो फिर विद्यार्थी विद्याध्ययन, पहलवान और कृषक की तरह अनवरत कष्ट साधन करने के लिए उत्साह बना रहेगा और उज्ज्वल भविष्य की आस में आज की कठिनाइयों को तुच्छ माना जाएगा, पर होता ऐसा कहाँ है ? इसका कारण वर्तमान को ही सब कुछ मान बैठने का मायावादी अज्ञान ही है। इसी में फँसकर मनुष्य दुर्बुद्धि अपनाता और पापकर्म करता है, यदि माया का पर्दा हट जाए तो फिर बाल-क्रीड़ाओं को छोड़कर वयस्कों और बुद्धिमानों जैसी गतिविधियाँ अपनाने की ही प्रवृत्ति बनेगी।

हम सब सराय में ठहरे हुए मुसाफिरों की तरह ही दिन व्यतीत कर रहे हैं। जल प्रवाह में बहते हुये तिनकों की तरह ही इकट्ठे हो गये हैं। जब मिल ही गये तो सराय के नियमों का, सड़क पर चलने के कानूनों का, क्षेत्र के नागरिक कर्त्तव्यों का पालन करना ही पड़ेगा, इस दृष्टि के विकसित होने पर यह अज्ञान हट जाता है कि कोई हमारा है या हम किसी के हैं। सब ईश्वर के हैं—और ईश्वर ही सबका हितू है। प्रत्येक प्राणी अपनी कर्म-रज्जु में बँधा अपनी धुरी पर घूम रहा है। समय का परिपाक बहुतों को परस्पर जुड़ाता और बिछुड़ाता रहता है। यह सत्य, यदि समझ में आ जाए तो न किसी के मोहबंधन बँधा जाय, न बाँधा जाए आत्मीयता के विस्तार द्वारा संपन्न होने वाला प्रेम हर किसी पर परिपूर्ण मात्रा में बखेरा जाए, पर उसमें विवेक का समुचित पुट रहे। परिवारी लोगों के प्रति अत्यधिक आसक्ति, पक्षपात और मोह के कारण उन्हें अनुचित लाभ देने की जो प्रवृत्ति पाई जाती है, उससे हर किसी का घोर अहित होता है। मुफ्त में अनावश्यक सहायता पाकर परिवार के लोग मुफ्तखोर बनते हैं और अपने श्रम-साधनों से जो लोक-मंगल संभव था, उससे समाज को वंचित रहना पड़ता है और व्यक्ति परमार्थ का कल्याणकारी लाभ लेने से वंचित रह जाता है। यह मायाबंधनों का परिणाम ही है, जिसने मोह

जाल में जकड़ कर विश्वहित की श्रेय साधना से वंचित करके पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचने में भारी व्यवधान प्रस्तुत किया।

वस्तुएँ हमें इसलिए मिलती हैं कि उनका श्रेष्ठतम सदुपयोग करके उनसे स्वकल्याण की व्यवस्था बनाई जाए। साधन जड़-जगत के अंग हैं और वे रंग रूप बदलते हुए इस जगत की शोभा बढ़ाते रहने के लिए हैं। उन्हें अपने गर्व-गौरव का, विलास-वैभव का आधार बनाकर संग्रह करते चलें। अहंकार का पोषण, तृष्णा की तुष्टि अथवा विलासिता के अभिवर्धन में धन को—शारीरिक, मानसिक विभूतियों को नियोजित रखा जाय तो उत्कृष्ट जीवन जी सकने का द्वार अवरुद्ध ही बना रहेगा। संकीर्ण और स्वार्थी जिंदगी ही जिया जा सकेगी और इस कुचक्र में यह सुर-दुर्लभ अवसर निरर्थक ही चला जाएगा।

शरीर और मन को अपना आपा मान बैठना और उसकी वासनाओं, तृष्णाओं की पूर्ति में इतना निमग्न हो जाना कि आत्मा का स्वरूप और लक्ष्य पूरी तरह विस्मृत हो जाए, ये दूरदर्शितापूर्ण नहीं है। शारीरिक और मानसिक उपलब्धियों के लिये जितना श्रम किया जाता है और मनोयोग लगाया जाता है, जोखिम उठाया जाता है, उतना ही विनियोग यदि आत्मोत्कर्ष के लिये—आत्मबल संपादन के लिये लगाया जा सके तो मनुष्य इसी जीवन में महामानव बन सकता है और उन विभूतियों को करतलगत कर सकता है, जो देवदूतों में पाई जाती हैं। इतना उच्चकोटि का लाभ छोड़कर नगण्य-सी लिप्साओं में डूबे हुये न करने योग्य काम करना—उनके कटु कर्म—परिपाक सहना, किसी विवेकवान के लिए उपयुक्त न होगा, किंतु देखा जाता है कि अधिकांश व्यक्ति उचित छोड़कर अनुचित का, लाभ छोड़कर हानि का रास्ता अपनाते हैं। इसे क्या कहा जाय ? यह माया का खेल ही है। जिससे भ्रमित होकर मनुष्य जल में थल, थल में जल देखने की तरह हानि को लाभ और लाभ को हानि समझता है। अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारता है।

माया विमुग्ध होकर ही मनुष्य अपने उच्च स्तर से अपनी दुर्बलताओं के कारण अधः पतित होता है और दुःख-क्लेश भरा नरक भोगता है, अन्यथा मनुष्य को इस विश्व के साथ संपर्क बनाकर सुखानुभूति प्राप्त कराने वाले जो तीन उपकरण मिले हैं, यदि उनका ठीक तरह उपयोग किया जा सके तो जीवन अति सुंदर और मधुर बन सकता है। इन तीन उपकरणों के नाम हैं। (१) अंतरात्मा (२) मन (३) इंद्रिय समूह।

इंद्रियों की बनावट ऐसी अद्‌भुत है कि दैनिक जीवन की सामान्य प्रक्रिया में ही उन्हें पग-पग पर असाधारण सरसता अनुभव होती है। पेट भरने के लिए भोजन करना स्वाभाविक है। भगवान की कैसी महिमा है कि उससे दैनिक जीवन की शरीर यात्रा भर की नितांत स्वाभाविक प्रक्रिया को कितना सरस बना दिया है। उपयुक्त भोजन करते हुए जीव को कितना रस मिलता है और चित्त को उस अनुभूति से कैसी प्रसन्नता होती है ?

आँख का साधारण काम है—वस्तुओं को देखना, ताकि हमारी जीवन यात्रा ठीक तरह चलती रह सके। पर आँखों में कितनी विशेषता भर दी है कि वह रूप, सौंदर्य, कौतुक, कौतूहल जैसी रस भरी अनुभूतियाँ ग्रहण करके चित्त को प्रफुल्लित बनाती हैं। संसार में उत्पादन, परिपुष्टि, विनाश का क्रम नितांत स्वाभाविक है। मध्यवर्ती स्थिति में हर चीज तरुण होती है और सुंदर लगती है। क्या पुष्प क्या मनुष्य, हर किसी को तीनों स्थितियों में होकर गुजरना पड़ता है। मध्यकाल सौंदर्य से भरा लगता है। वस्तुतः यह तीनों ही स्थितियाँ अपने क्रम, अपने स्थान और अपने समय पर सुंदर हैं। पर आँखों को सुंदर-असुंदर का भेद करके मध्य स्थिति को सुंदर समझने की कुछ अद्‌भुत विशेषता मिली है। फलस्वरूप जो कुछ उभरता हुआ विकसित, परिपुष्ट दीखता है, सो सुंदर लगता है। सुंदर-असुंदर का तात्विक दृष्टि से यहाँ कुछ भी अस्तित्व नहीं है। पर हमारी अद्‌भुत आँखें ही हैं जो अपनी सौंदर्यानुभूति वाली विशेषता के कारण हमाारे दैनिक जीवन से

संबंधित समीपवर्ती वस्तुओं में से सौंदर्य वाला भाग देखतीं, आनंद अनुभव करतीं, उल्लसित और पुलकित होती हैं। चित्त को प्रसन्न करती हैं।

इसी प्रकार जननेंद्रिय की प्रक्रिया है। प्रजनन मक्खी, मच्छरों, कीट-पतंगों, बीज अंकुरों में भी चलता रहता है। यह सृष्टि का सरल स्वाभाविक क्रम है, पर हमारी जननेंद्रिय में कैसा अजीब उल्लास सराबोर कर दिया है कि संभोग के क्षण ही नहीं—उसकी कल्पना भी मन के कोने-कोने में सिहरन पुलकन, उमंग और आतुरता भर देती है। तत्त्वतः बात कुछ भी नहीं है। दो शरीरों के, दो अवयवों का स्पर्श—इसमें क्या अनोखापन है ? क्या अद्‌भुतता है ? क्या उपलब्धि है ? फिर स्पर्श का कुछ प्रभाव हो भी, तो उसकी कल्पना से किस प्रकार, क्यों, किसलिए चित्त को बेचैन करने वाली ललक पैदा होनी चाहिए ? बात कुछ भी नहीं है। मात्र जननेंद्रिय की बनावट में एक अद्‌भुत प्रकार की सरसता का समावेश मात्र है, जो हमें सामान्य स्वाभाविक दांपत्य-जीवन के वास्तविक या काल्पनिक, प्रत्यक्ष और परोक्ष क्षेत्र में—एक विचित्र प्रकार की रसानुभूति उत्पन्न करके—जीने भर के लिए प्रयुक्त हो सकने वाले जीवन को निरंतर उमंगों से भरता रहता है।

ऊपर जीभ, आँख और जननेंद्रिय की चर्चा हुई, कान और नाक के बारे में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। यहाँ पृष्ठ वाला इंद्रिय समूह अपने साथ रसानुभूति की विलक्षणता इसलिए धारण किए हुए हैं कि सरस, स्वाभाविक सामान्य जीवन-क्रम ऐसे ही नीरस ढर्रे का जीने भर के लिये मिला हुआ प्रतीत न हो, वरन् उसमें हर घड़ी उत्साह, उल्लास, रस, आनंद बना रहे और उसे उपलब्ध करते रहने के लिये, जीवन की उपयोगिता, सार्थकता और सरसता का भान होता रहे। इंद्रिय समूह हमें इसी प्रयोजन के लिए उपलब्ध है। यदि उनका उचित, संयमित, विवेकपूर्ण, व्यवस्थापूर्वक उपयोग किया जा सके, तो हमारा भौतिक, सांसारिक जीवन पग-पग पर सरसता, आनंद उपलब्ध करता रह सकता है।

दूसरा उपकरण मन इसलिए मिला है कि संसार में जो कुछ चेतन है, उसके साथ अपनी चेतना का स्पर्श करके और भी ऊँचे स्तर की आनंदानुभूति प्राप्त करे। इंद्रियाँ जड़ शरीर से संबंधित है। जड़ पदार्थों को स्पर्श करके—उस संसर्ग का सुख लूटती है। जड़ का जड़ से स्पर्श भी कितना सुखद हो सकता है, इस विचित्रता का अनुभव हमें इंद्रियों के माध्यम से होता है। चेतन का चेतन के साथ, जीवधारी का जीवधारी के साथ स्पर्श-संपर्क होने से मित्रता, ममता, मोह, स्नेह, सद्भाव, घनिष्ठता, दया, करुणा, मुदिता जैसी अनुभूतियाँ होती हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों में द्वेष, घृणा जैसे भाव भी उत्पन्न होते हैं, पर उनका अस्तित्व है इसीलिए कि मित्रता के वातावरण में संपर्क, संसर्ग का आनंद बिखरता रहे, यदि अंधकार न हो तो प्रकाश की विशेषता ही नष्ट हो जाय। वस्तुतः मन की बनावट दूसरों के संपर्क, सहयोग, स्नेहभावों के आदान-प्रदान का सुख प्राप्त करने में है। मेले-ठेलों में, सभा सम्मेलनों में जाने की इच्छा इसलिए उठती है, उन जन-संकुल स्थानों में व्यक्तियों की घनिष्ठता न सही समीपता का अदृश्य सुख तो अनायास मिलता ही है।

चूँकि इंद्रिय सुख और जन संपर्क का घनिष्ठता में सहायक एक और नया माध्यम सभ्यता के विकास के साथ-साथ बनकर खड़ा हो गया है, इसलिये अब प्रिय वह भी लगने लगा है—इस तीसरे मनुष्य कृत—आकर्षण तत्त्व का नाम है—धन, इसमें स्वभावतः कोई आकर्षण नहीं। इसमें इंद्रिय समूह या मन को पुलकित करने वाली कोई सीधी क्षमता नहीं है। धातु के सिक्के या कागज के टुकड़े भले आदमी के लिए प्रत्यक्षतः क्यों आकर्षक हो सकते हैं ? पर चूँकि वर्तमान समाज व्यवस्था के अनुसार धन के द्वारा इंद्रिय सुख के साधन प्राप्त होते हैं। मैत्री भी संभव होती है। इसलिए धन भी प्रकारांतर रूप से मन का प्रिय विषय बन गया। अस्तु धन की गणना भी सुखदायक माध्यमों में जोड़ ली गई है।

तीन शरीरों को जीवात्मा धारण किये हुए है। तीनों की तीन रसानुभूतियाँ हैं। ऊपर दो की चर्चा हो चुकी। स्थूल शरीर की सरसता—इंद्रिय समूह के साथ जुड़ी हुई है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन जैसे सुख इंद्रियों द्वारा ही मिलते हैं। सूक्ष्म शरीर का प्रतीक मन है। मन की सरसता मैत्री पर, जन संपर्क पर अवलंबित है। परिवार मोह से लेकर समाज संबंध, नेतृत्व, सम्मेलन, उत्सव, आयोजन जैसे संपर्क पर अवसर मन को सुख देते हैं। घटित होने वाली घटनाओं को अपने ऊपर घटित होने की सूक्ष्म संवेदना उत्पन्न करके, वह समाज की अनेक हलचलों से भी अपने को बाँध लेता है और उन घटनाक्रमों में खट्टी-मीठी अनुभूतियाँ उपलब्ध करता है। उपन्यास, सिनेमा, अखबार, रेडियो आदि मन को इसी आधार पर आकर्षित करते और प्रिय लगते हैं।

तीसरा रसानुभूति उपकरण है—अंतरात्मा उसका कार्य क्षेत्र 'कारण शरीर' है। उसमें उत्कृष्टता, उत्कर्ष, प्रगति, गौरव की प्रवृत्ति रहती है, जो उच्च भावनाओं के माध्यम से चरितार्थ होती है। मनुष्य की श्रेष्ठता और सन्मार्गगामिता प्रखर होती रहे, इसके लिए उसमें भी एक रसानुभूति विद्यमान है—उसका नाम है वर्चस्व, यश कामना, नेतृत्व, गौरव प्रदर्शन। उस आकांक्षा से प्रेरित होकर मनुष्य अगणित प्रकार की सफलताएँ प्राप्त करता है ताकि वह स्वयं दूसरों की तुलना में अपने आपको श्रेष्ठ, पुरुषार्थी, पराक्रमी, बुद्धिमान अनुभव करके सुख प्राप्त करे और दूसरे लोग भी उसकी विशेषताओं, विभूतियों से प्रभावित होकर उसे यश, मान प्रदान करें।

संक्षेप में यह मनुष्य के तीन शरीरों की—तीन रसानुभूतियों की चर्चा हुई। हमारी अगणित योजनाएँ, इच्छा, आकांक्षाएँ गतिविधियाँ इन्हीं तीन मूल प्रवृत्तियों के इर्द-गिर्द घूमती हैं। जो कुछ मनुष्य सोचता और करता है, उसे तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। भगवान ने यह तीन उपहार जीवन को सरसता से भरा पूरा रखने के लिए दिए हैं। साथ ही उनका अस्तित्व इसलिये भी है कि व्यक्ति निरंतर सक्रिय बना रहे। इन सुखानुभूतियों को प्राप्त

करने के लिये उसके तीनों शरीर निरंतर जुटे रहें। आलस्य, अवसाद की उदासीनता, नीरसता की स्थिति सामने आकर खड़ी न हो जाए और जीवन को आनंद रहित भार रूप न बना दे। सक्रियता के आधार पर चल रहे सृष्टि क्रम को अवरुद्ध न कर दे अंतरात्मा, मन और इंद्रिय समूह को यदि सही मार्ग पर चलने का अवसर मिलता रहे तो जीवन हर्षोल्लास के साथ व्यतीत हो सकता है।

भूल मनुष्य की तब आरंभ होती है, जब वह इन तीनों रसानुभूतियों को अमर्यादित होकर—अनावश्यक मात्रा में—अति शीघ्र, बिना उचित मूल्य चुकाए प्राप्त करने के लिये आकुल, आतुर हो उठता है और लूट-खसोट की मनोवृत्ति अपनाकर अवांछनीय गतिविधियाँ अपना लेता है। विग्रह इसी से उत्पन्न होता है। पाप का कारण यही उतावली है। जीवन में अव्यवस्था और अस्त-व्यस्तता इसी से उद्भपन्न होती है। पतन इसी भूल का परिणाम है; अपराधी, दुष्ट और घृणित बनने का कारण उन उपलब्धियों के लिये अनुचित मार्ग को अपनाना ही है। उतावला व्यक्ति आतुरता में विवेक खो बैठता है और औचित्य को भूलकर बहुत जल्दी-अधिक मात्रा में उपरोक्त सुखों को पाने के लिए असंतुष्ट होकर एक प्रकार से उच्छृंखल हो उठता है। यह अमर्यादित स्थिति उसके लिए विपत्ति बनकर सामने आती है। सरल स्वाभाविक रीति से जो शांतिपूर्वक मिल रहा था—मिलता रह सकता था; वह भी हाथ से चला जाता है और शारीरिक रोग, मानसिक उद्वेग-सामाजिक तिरस्कार, आर्थिक अभाव, आत्मिक अशांति के संकटों से घिरा हुआ जीवन नरक बन जाता है। अधिक के लिये उतावला मनुष्य सरसता स्वाभाविकता को भी खोकर उलटा शोक-संताप, कष्ट-क्लेश एवं अभाव, दारिद्रय में फँस जाता है। आमतौर से मनुष्य यह भूल करते हैं। इसी भूल को माया, अज्ञान, अविद्या नामों से पुकारते हैं। यह भूल ही ईश्वर प्रदत्त पग-पग पर मिलती रहने

वाली सरसता से वंचित करती है और इसी के कारण जीव ऊँचा उठने के स्थान पर नीचे गिरता है।

अध्यात्म विद्या का उद्देश्य मनुष्य के चिंतन और कर्त्तव्य को अमर्यादित न होने देने—अवांछनीयता न अपनाने के लिए आवश्यक विवेक और साहस उत्पन्न करता है, ताकि मनुष्य अपने अस्तित्व को, लक्ष्य को व्यवहार को सही तरह समझे। सही मार्ग को अपनाकर सही परिणाम उपलब्ध करते हुए, प्रगति के पथ पर निरंतर आगे बढ़ता चले। अपूर्णता से पूर्णता में विकसित हो। यही मार्गदर्शक करता है। इसका व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करना आत्मविद्या का मूल प्रयोजन है।

यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि मानव का निर्माण जड़ एवं चेतन दोनों के युग्म से हुआ है। जब तक शरीर में चेतना है, तब तक हमारी सभी इंद्रियाँ क्रियाशील हैं और शरीर में हलचल है, लेकिन जिस क्षण चेतना या आत्मा शरीर से अलग हो जाती है। शरीर मिट्टी का ढेला मात्र ही रहता है। कोई स्पंदन, कोई क्रिया, कोई सार्थकता नहीं रह पाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीर एवं आत्मा का संयोग जहाँ जीवात्मा में विराट शक्ति का स्रोत है, वहाँ आत्मा से रहित शरीर का कोई मूल्य नहीं। अपने जीवन का प्रत्येक क्षण हम अपने शरीर के सुख-साधन जुटाने में खर्च करते हैं और इंद्रियजन्य भोगों में मरते-खपते रहते हैं, लेकिन मृत्यु के समय तक भी हम अपनी वासनाओं, तृष्णाओं एवं लिप्साओं को तुष्ट नहीं कर पाते।

जीवन के समग्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि हम शरीर एवं आत्मा दोनों के समन्वित विकास, परिष्कार एवं तुष्टि-पुष्टि का दृष्टिकोण बनावें। एक को ही सिर्फ विकसित करें और एक को उपेक्षित करें—ऐसा दृष्टिकोण अपनाने से सच्चा आनंद नहीं मिल सकता।

□ □

ईश्वर की सच्चिदानंदमय सत्ता

विश्व अस्तित्व की इकाइयाँ मानी गई हैं, (१) ईश्वर, (२) जीव, (३) प्रकृति। ईश्वर तीन गुण वाला है। सत्, चित्त, आनंद। यह तीन उसके गुण हैं। सत् अर्थात अस्तित्वयुक्त। जो है, था, जो रहेगा, उस अविनाशी तत्त्व को सत् कहते हैं। चित्त् अर्थात चेतना। जिसमें सोचने, विचारने, निर्णय करने एवं भावाभिव्यक्ति युक्त होने की विशेषताएँ हैं, उसे चित्त कहेंगे। आनंद—अर्थात् सुख, संतोष और उल्लास का समन्वय। ईश्वर अस्तित्ववान है, चैतन्य है तथा आनंदानुभूति में पूरा है। इसलिये उसे सच्चिदानंद कहते हैं।

जीवन के दो गुण हैं—सत् और चित्। वह अस्तित्ववान है। ईश्वर से उत्पन्न अवश्य है, पर लहरों की तरह उसकी स्वतंत्र सत्ता भी है और वह ऐसी है कि सहज ही नष्ट होती। मुक्ति में भी उसका अस्तित्व बना रहता है और निर्विकल्प, सविकल्प स्थिति में सारूप्य, सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य का आनंद अनुभव करता है। प्रलय में सब कुछ सिमिटकर एक में अवश्य इकट्ठा हो जाता है, फिर भी वह आटे की तरह एक दीखते हुए भी जीव कोशों की स्वतंत्र सत्ता बनी रहती है। मूर्छा, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या एवं समाधि अवस्था में भी मूलसत्ता यथावत रहती है। मरणोत्तर जीवन तो रहता ही है। इस प्रकार जीव की सत्—अस्तित्ववान स्थिति अविच्छिन्न रूप से बनी रहती है।

जीव का दूसरा गुण है—चित्त। चेतना उसमें रहती ही है। यह चेतना ही उसका 'स्व' है। अहंता—ईगो—सैल्फ—आत्मानुभूति इसी को कहते हैं। तत्त्वज्ञानियों से लेकर अज्ञानियों तक में यह स्थिति सदैव पाई जाएगी। ईश्वर में आनंद परिपूर्ण है। जीव उसकी खोज में रहता है, उसे प्राप्त करने के लिए विविध प्रयास करता है और

न्यूनाधिक मात्रा में भले-बुरे रूप में उसी की प्राप्ति के लिये लालायित और यत्नशील रहता है।

प्रकृति में एक ही गुण है, सत्। उसका अस्तित्व है। अणु-परमाणुओं के रूप में—दृश्य और अदृश्य प्रक्रिया के साथ जगत की सत्ता के रूप में प्रकृति को देखा जा सकता है। ईश्वर और जीव दोनों का क्रिया-कलाप इस प्रकृति-प्रक्रिया के साथ ही गतिशील रहता है। महाप्रलय में प्रकृति सघन होकर—पंच तत्त्वों की अपेक्षा एक महातत्त्व में विलीन हो जाती है। इस प्रकार जब कभी इस विश्व ब्रह्मांड की लय-प्रलय होगी, तब ईश्वर के सत् तत्व में प्रकृतिलीन हो जाएगी, जीव चित् में घुल जाएगा और उसका अपना अतिरिक्त गुण आनंद, यथावत बना रहेगा।

महासृष्टि के आरंभ का क्रम भी यही है। तत्त्वदर्शियों के अनुसार ब्रह्म में स्फुरणा होती है—एक से बहुत होने की। वह अपने को अंश रूप में विभक्त करके, एक से अनेक बनता है और जीव सत्ता का अस्तित्व विनिर्मित होता है। स्फुरणा द्वारा जीवन की उत्पत्ति के बाद उसकी दूसरी उमंग आगे आती है। वह है—इच्छा। आनंद को निराकारिता को साकारिता में परिणत करने के लिये पदार्थ की आवश्यकता होती है। इच्छा के प्रतिफल ही आवश्यकता, आविष्कार और आविर्भाव के रूप में सामने आता है। यह प्रकृति है। स्फुरणा से जीव और इच्छा से प्रकृति का निर्माण करके ब्रह्म साक्षी और दृष्टा के रूप में सर्वत्र विद्यमान रहता है और इस जगत की सारी प्रक्रिया की स्वसंचालित पद्धति को बनाकर अपने क्रिया-कर्तृत्व का आनंद लेता है।

➢ सृष्टि जगत का अधिष्ठाता

इस संबंध में कई लोगों को संदेह होता है कि ईश्वर है भी अथवा नहीं, सामान्य दृष्टि से विचार करने पर भी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले अनेकों प्रमाण मिल जाते हैं। कोई यह सिद्ध करने के लिए पूर्वाग्रह ग्रस्त होकर ही चले कि ईश्वर

नहीं है तो बात अलग है। अन्यथा ईश्वर का अस्तित्व उदित और चमकते सूरज से भी अधिक प्रत्यक्ष है। उदाहरण के लिये प्रत्येक कर्म का कोई अधिष्ठाता, प्रत्येक रचना का कोई कलाकार अवश्य होता है। आगरे का ताजमहल संसार के सर्व प्रसिद्ध सात आश्चर्यों में से एक है। उसके निर्माण में प्रतिदिन २० हजार मजदूर काम करते थे, इतिहासकारों के अनुमान के अनुसार उसका निर्माण ६ करोड़ रुपये में हुआ। उसके निर्माण में साढ़े अट्ठारह वर्ष लगे। उसमें राजस्थान से आया संगमरमर, तिब्बत की नीलम मणि, सिंहल की सिपास्लाजुली मणि, पंजाब के हीरे, बगदाद के पुखराज रत्न लगे हैं। इतनी सारी व्यवस्था और साधन-सामग्री जुटाने में एक व्यक्ति की बुद्धि काम कर रही थी, वह था शाहजहाँ। ताजमहल की रचना के साथ शाहजहाँ चिरकाल तक अमर है।

कोरिया का मेलोलियम संसार का दूसरा आश्चर्य। ६२ हाथ लंबी उतनी ही चौड़ी चहारदीवारी के मध्य ४०-४० हाथ ऊँचे ३६ स्तंभ जो नीचे मोटे, पर ऊपर क्रमशः पतले होते गये हैं। सीढ़ियों पर नीचे से ऊपर तक संगमरमर की बहुमूल्य मूर्तियों की सजावट। प्रसिद्ध कलाकार पाइथिस और माटीराम द्वारा विनिर्मित इस समाधि मंदिर का निर्माण केवल एक व्यक्ति की इच्छित रचना है, वह थी वहाँ की महारानी 'आर्टीमिसिया।"

२० लाख रुपये की लागत से बनी २५ फुट ऊँची ओलंपिया की जुपिटर प्रतिमा, एथेन के सम्राट पैराक्लीज की हार्दिक इच्छा का अभिव्यक्त रूप है। इफिसास का डायना मंदिर चाँदफिन की कल्पना का साकार है, तो अजंता की २६ गुफाओं में ५ मंदिरों और २४ बौद्ध बिहारों में प्रवर सेन युग के आचार्य सुनंद का नाम अंकित है। सिकंदरिया का प्रकाश स्तंभ सिकंदर के संकल्प का मूर्तिमान है। २६३ हाथ के घेरे में २२ फुट ऊँचे ठोस घेरे में खड़ा किया गया, बैबिलोन का लटकता हुआ बाग (हैंगिग गार्डन)— बैबिलोन साम्राज्ञी ने बनवाया। रोम का कोलोसियस, पीसा की मीनार, रोडस की पीतल की मूर्ति, मिस्र के पिरामिड चार्टेज

गिरजाघर डेविड, मोजेट, सिस्टा इन चैपिल पियेटा की प्रतिमाएँ, एफिल टावर (पेरिस) व्हाइट हाउस (अमेरिका), लाल किला (दिल्ली) आदि जितनी भी सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं, उनके रचनाकार आला मस्तिष्क और भाव संपन्न आत्माएँ रही हैं। किसी भी सांसारिक निर्माण को स्वनिर्मित नहीं कहा जा सकता, इसी से रचना के साथ रचनाकार का नाम अविच्छिन्न रूप से चलता है।

यह छोटे-छोटे उपादान बिना कर्त्ता के अभिव्यक्ति नहीं पा सके होते तो इतना सुंदर संसार जिसमें प्रातःकाल सूरज उगता और प्रकाश व गर्मी देता है। रात थकों को अपने अंचल में विश्राम देती, तारे पथ-प्रदर्शन करते, ऋतुएँ समय पर आती और चली जाती हैं। हर प्राणी के लिए अनुकूल आहार, जल-वायु की व्यवस्था, प्रकृति का सुव्यवस्थित स्वच्छता अभियान सब कुछ व्यवस्थित ढंग से चल रहा है। करोड़ों की संख्या में तारागण किसी व्यवस्था के अभाव में अब तक न जाने कब के लड़ मरे होते। यदि इन सबमें गणित कार्य न कर रहा होता तो अमुक दिन, अमुक समय सूर्य-ग्रहण, चंद्र-ग्रहण, मकर संक्रांति आदि का ज्ञान किस तरह हो पाता ? यह प्राप्तोद्देश्य कर्म और सुंदरतम रचना बिना किसी ऐसे कलाकार के संभव नहीं हो सकती थी, जो संपूर्ण ब्रह्मांड को एकरस देखता हो, सुनता हो, साधन जुटाता हो, नियम व्यवस्थाएँ बनाता हो, न्याय करता हो जीव मात्र का पोषण-संरक्षण करता हो।

नियामक के बिना नियम व्यवस्था, प्रशासक के बिना प्रशासन चल तो सकते हैं, पर कुछ समय से अधिक नहीं, जबकि पृथ्वी को ही अस्तित्व में आए करोड़ों वर्ष बीत चुके। परिवार के वयोवृद्ध के हाथ सारी गृहस्थी का नियंत्रण होता है। गाँव का एक मुखिया होता है तो कई गाँवों के समूह की बनी तहसील का स्वामी तहसीलदार, जिले का मालिक कलेक्टर, राज्य का गवर्नर और राष्ट्र का राष्ट्रपति। मिलों तक के लिए मैनेजर, कंपनियों के डायरेक्टर न हों तो उनकी ही व्यवस्था ठप्प पड़ जाती है और उनका अस्तित्व डाँवाडोल हो जाता है, फिर इतनी बड़ी और व्यवस्थित सृष्टि का

प्रशासक, स्वामी और मुखिया न होता तो संसार न जाने कबका विनष्ट हो चुका होता ? जड़ में शक्ति हो सकती है, व्यवस्था नहीं। नियम सचेतन सत्ता ही बनी सकती है, सो इन तथ्यों के प्रकाश में परमात्मा का विरद् चरितार्थ हुए बिना नहीं रहता।

नेशनल हेराल्ड में एक लेख छपा था—"वैज्ञानिक भगवान में विश्वास क्यों करते हैं ? इस लेख में विद्वान लेखक ने बताया है कि संसार का हर परमाणु एक निर्धारित नियम पर काम करता है, यदि इसमें रत्ती भर भी अव्यवस्था और अनुशासनहीनता आ जाये तो विराट ब्रह्मांड एक क्षण को भी नहीं टिक पाता। एक क्षण के विस्फोट से अनंत प्रकृति में आग लग जाती और संसार अग्नि ज्वालाओं के अतिरिक्त कुछ न होता।"

नियामक विधान किसी मस्तिष्कीय सत्ता का अस्तित्व में होना प्रमाणित करता है। हमारे जीवन का आधार सूर्य है। यह १० करोड़ ६० लाख मील की दूरी से अपनी प्रकाश किरणें भेजता है, जो ८$\frac{१}{२}$ मिनट में पृथ्वी तक पहुँचती है। दिन भर में यहाँ के वातावरण में इतनी सुविधाएँ एकत्र हो जाती हैं कि रात आसानी से कट जाती है। दिन-रात के इस क्रम में एक दिन भी अंतर पड़ जाए, तो जीवन संकट में पड़ जाए। सूर्य के लिए पृथ्वी समुद्र में बूँद का-सा नगण्य अस्तित्व रखती है फिर, उसकी तुलना में रूस के साईबेरिया प्रांत में एक गड़रिये के घर में ज़ी रही एक चींटी का क्या अस्तित्व हो सकता है ? पर वह भी मजे में अपने दिन काट लेती है।

सूर्य अनंत अंतरिक्ष का एक नन्हा तारा है, 'रीडर्स डाइजेस्ट' ने एक एटलस छापा है। उसमें सौरमंडल के लिए एक बिंदु मात्र रखा है और तीर का निशान लगाकर दूर जाकर लिखा है—"हमारा सौरमंडल यहाँ कहीं है" यह ऐसा ही हुआ कि कोई मेरी आँख का आँसू समुद्र में गिर गया। सूर्य से तो बड़ा "रीजल" तारा ही है, जो उससे ९५ हजार गुना बड़ा है। "अंटेयर्स" सूर्य जैसे ३ करोड़ ६० लाख गोलों को अपने भीतर आसानी से सुला सकता है। जून

१९६७ के "साइंस टुडे" में "ग्राहम बेरी" ने लिखा है। पृथ्वी से छोटे ग्रह भी ब्रह्मांड में हैं और ५ खरब मील की परिधि वाले भीमकाय नक्षत्र भी। किंतु यह सभी विराट ब्रह्मांड में निर्द्वंद्व विचरण कर रहे हैं, यदि कहीं कोई व्यवस्था न होती तो यह तारे आपस में ही टकराकर नष्ट-भ्रष्ट हो गये होते ।

सूर्य अपने केंद्र में १ करोड़ साठ लाख डिग्री से. ग्रे. गर्म है, यदि पृथ्वी के ऊपर अयन मंडल (आइनोस्फियर) की पट्टियाँ न चढ़ाई गई होतीं तो पृथ्वी न जाने कब जलकर राख हो गई होती ? सूरज अपने स्थान से थोड़ा-सा खिसक जाए तो ध्रुव प्रदेशों में बर्फ पिघलकर सारी पृथ्वी को डूबो दे, यही नहीं उस गर्मी से कड़ाह में पकने वाली पूड़ियों की तरह सारा प्राणी जगत ही पककर नष्ट हो जाए। थोड़ा ऊपर हट जाने पर समुद्र तो क्या धरती की मिट्टी तक बर्फ बनकर जम सकती है। यह तथ्य बताते हैं कि ग्रहों की स्थिति और व्यवस्था अत्यंत बुद्धिमत्तापूर्वक की गई है। यह परमात्मा के अतिरिक्त कौन चित्रकार हो सकता है ?

इतने पर भी कुछ लोग हैं जो यह कहते नहीं थकते कि ईश्वरीय सत्ता का कोई प्रमाण, कोई अस्तित्व नहीं है। मार्क्स ने किसी पुस्तक में यह लिखा है कि—"यदि तुम्हारा ईश्वर प्रयोगशाला की किसी परखनली में सिद्ध किया जा सके तो मैं मान लूँगा कि वस्तुतः ईश्वर का अस्तित्व है।"

➢ सिद्ध न होने पर भी

नास्तिक दर्शन की मूल मान्यता भी यही है कि ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सकता और जो सिद्ध नहीं होता, उसका अस्तित्व कैसे हो सकता है ? यह मान्यता अपने आप में एकांगी और अधूरी है, जो मान्यता विज्ञान से सिद्ध नहीं होती, उसका अस्तित्व ही नहीं है—यह अब से सौ वर्ष पूर्व तक तो अपने स्थान पर सही थी, क्योंकि तब विज्ञान अपने शैशव में था। परंतु जब विज्ञान ने अविज्ञात के क्षेत्र में प्रवेश किया और एक से एक रहस्य सामने

आते गये तो यह माना जाने लगा कि ऐसी बहुत-सी वस्तुओं का, सत्ताओं का अस्तित्व है, जो अभी विज्ञान द्वारा सिद्ध नहीं हो सका है अथवा जिन तक विज्ञान नहीं पहुँच सका है।

कुछ दशाब्दियों से पूर्व तक यह माना जाता था कि पदार्थ का सबसे सूक्ष्म कण अणु है और वह अविभाज्य है। पदार्थ के सूक्ष्मतम विभाजन के बाद अवशिष्ट स्वरूप को अणु कहा गया और माना जाने लगा कि यही अंतिम है। परंतु इसके कुछ वर्षों बाद ही वैज्ञानिकों को अणु से भी सूक्ष्म कण परमाणु का पता चला। परमाणु को अविभाज्य समझा जाने लगा। लेकिन परमाणु का विखंडन भी संभव हो गया। पदार्थ के इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप के विखंडन से बहुत बड़ी ऊर्जा का विस्फोट दिखाई दिया, जिसके ध्वंस या सृजन में, चाहे जिस प्रयोजन के लिए उपयोग संभव दिखाई देने लगा।

परंतु अब यह भी नहीं मान लिया गया है कि परमाणु ही अंतिम सत्य है। यह समझा जा रहा है कि परमाणु से भी सूक्ष्म पदार्थ का कोई अस्तित्व हो सकता है। इसी आधार पर प्रो. रिचर्ड ने अपनी पुस्तक "थर्टीईयर आफ साइकिक रिचर्स" में लिखा है—पचास वर्ष पूर्व यह माना जाता था कि जो बात भौतिक विज्ञान से सिद्ध न हो, उसका अस्तित्व ही नहीं है, किंतु भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में ही अब ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि वह अभी भौतिक वस्तुओं को ही ठीक से समझ नहीं पाया है। फिर उसे सत्ता के अस्तित्व को इस आधार पर कैसे चुनौती दी जा सकती है, जिसे भौतिक विज्ञान की पहुँच के बाहर कहा जाता है।

सर ए. एस. एडिग्रन ने इसी तथ्य को यों प्रतिपादित किया है—"भौतिक पदार्थों के भीतर एक चेतन शक्ति काम कर रही है, जिसे अणु-प्रक्रिया का प्राण कहा जा सकता है, हम उसका सही स्वरूप और क्रियाकलाप अभी नहीं जानते, पर यह अनुभव कर सकते हैं कि संसार में जो कुछ हो रहा है; वह अनायास, आकस्मिक या अविचारपूर्ण नहीं है।

आधुनिक विज्ञान पदार्थ का अंतिम विश्लेषण करने में भी अभी समर्थ नहीं हो सका है। उदाहरण के लिए परमाणु का विखंडन हो जाने के बाद पदार्थ का एक ऐसा सूक्ष्मतम रूप अस्तित्व में आया है, जिसे वैज्ञानिक अभी तक पूरी तरह समझ नहीं पाए हैं। जैसे प्रकाश कोई वस्तु नहीं है। वस्तु का अर्थ है जो स्थान घेरे, जिसमें कुछ भार हो और जिसका विभाजन किया जा सके। प्रकाश का न तो कोई भार होता है, न वह स्थान घेरता है और न ही उसका विभाजन किया जा सकता है। पदार्थ का अंतिम कण जो परमाणु से भी सूक्ष्म है, ठीक प्रकाश की तरह है, परंतु उसमें एक वैचित्र्य भी है कि वह तरंग होने के साथ-साथ स्थान भी घेरता है। वैज्ञानिकों ने परमाणु से भी सूक्ष्म इस स्वरूप को नाम दिया है—"क्वांटा"।

कहने का अर्थ यह है कि भौतिक विज्ञान अभी पदार्थ का विश्लेषण करने में भी भली-भाँति समर्थ नहीं हो सका है, फिर चेतना का विश्लेषण और प्रामाणीकरण करना तो बहुत दूर की बात है। शरीर-संस्थान में चेतना का प्रधान कार्यक्षेत्र मस्तिष्क कहा जाता है। वहीं विचार उठते हैं, चिंतन चलता है, भाव-संवेदनाओं की अनुभूति होती है। शरीर विज्ञान की अद्यतन शोध प्रगति भी मस्तिष्कीय केंद्र का रहस्य समझ पाने में असमर्थ रही है। डॉ. मैकडूगल ने अपनी पुस्तक "फिजियोलाजिकल साइकोलाजी" में लिखा है—"मस्तिष्क की संरचना को कितनी ही बारीकी से देखा समझा जाए, यह उत्तर नहीं मिलता कि मानव प्राणी पाशविक स्तर से ऊँचा उठकर किस प्रकार ज्ञान-विज्ञान की धारा में बहता रहता है और कैसे भावनाओं, संवेदनाओं से ओत-प्रोत रहता है ? भाव-संवेदनाओं की गरिमा का समझाते हुये हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि मनुष्य के भीतर कोई अमूर्त सत्ता भी विद्यमान है, जिसे आत्मा अथवा भाव चेतना जैसा कोई नाम दिया जा सकता है।"

जीवित और मृत देह में मूलभूत रासायनिक तत्त्वों में कोई परिवर्तन होता है तो इतना भर कि उनकी गति, निरंतर उनका

होता रहने वाला रूपांतरण-विकास अवरुद्ध हो जाता है, इस अवरुद्ध क्रम में चालू करने के कितने ही प्रयास किये गये, परंतु उनमें कोई सफलता नहीं मिल सकी। प्रयास अभी भी जारी हैं, परंतु भिन्न ढंग के। अब यह सोचा जा रहा है कि मृत्यु के समय शरीर में विलुप्त हो जाने वाली चेतना को पुनः किसी प्रकार लौटाया जा सके तो पुनर्जीवन संभव है। इसी प्रकार आधार पर "मिस्टिरियस यूनिवर्स" ग्रंथ के रचयिता सरजेम्स जोन्स ने लिखा है—"विज्ञान जगत सब पदार्थ सत्ता का नियंत्रण करने वाली चेतन सत्ता की ओर उन्मुख हो रहा है तथा यह खोजने में लगा है कि हर पदार्थ को गुण धर्म की रीति-नीति से नियंत्रित करने वाली व्यापक चेतना का स्वरूप क्या है ? पदार्थ की स्वसंचालिता इतनी अपूर्ण है कि उस आधार पर प्राणियों की चिंतन क्षमता का कोई समाधान नहीं मिलता।"

सृष्टिक्रम की सुव्यवस्था, विकासक्रम और जीवन-चेतना की विचित्र अद्भुत विविधता फिर भी उनमें सुनियोजित साम्य-ईश्वरीय अस्तित्व का प्रबल प्रमाण है। इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि सृष्टि का कोई भी घटक, जीव-प्राणी पदार्थ से भिन्न कुछ नहीं है। कहा जाता है कि समस्त विश्व सब कुछ घटनाओं के जोड़ के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

उसके उत्तर में ख्याति प्राप्त विज्ञान वेत्ता टेंडल ने अपने ग्रंथ "फ्रेगमेंटस् ऑफ साइंस" में लिखा है हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन और कुछ ऐसे ही जड़ ज्ञान शून्य पदार्थों के परमाणुओं से जीवन चेतना का उदय हुआ यह असंगत है, क्योंकि जीवन चेतना का स्पंदन हर जगह इतना सुव्यवस्थित और सुनियोजित है कि उसे संयोग मात्र नहीं कहा जा सकता। चौपड़ के पाँसे खड़खड़ाने, होमर के काव्य की प्रतिभा एवं गेंद की फड़फड़ाहट से गणित के डिफरेंशियल सिद्धांत का उद्भव कैसे हो सकता है ?'

"पुगमेंट्स ऑफ साइंस" के लेखक ने लिखा है कि यांत्रिक-प्रक्रिया के माध्यम से देखना, सोचना, स्वप्न, संवेदना और

आदर्शवादी भावनाओं के उभार की कोई तुक नहीं बैठती। शरीर यात्रा की आवश्यकता पूरी करने के अतिरिक्त मनुष्य जो कुछ सोचता, चाहता और करता है तथा संसार में जो कुछ भी ज्ञात-विज्ञात है, वह इतना अद्‌भुत है कि जड़ परमाणुओं के संयोग से उनके निर्माण की कोई संगति नहीं बिठाई जा सकती।

रहस्यमय यह संसार और इसके बाद जड़-पदार्थों का विश्लेषण ही अभी प्रयोगशालाओं में संभव नहीं हुआ है, तो चेतना, ईश्वरीय सत्ता का विश्लेषण प्रमाणीकरण लैबोरेटरी के यंत्रों से किस प्रकार हो सकेगा ? फिर भी यह कहने का अथवा इस आग्रह पर अड़े रहने का कोई कारण नहीं है कि विज्ञान से सिद्ध न होने के कारण ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। परमाणु का जब तक पता नहीं चला था, इसका अर्थ यह नहीं है कि उससे पहले परमाणु था ही नहीं। परमाणु उससे पहले भी था और आज तर्कों द्वारा उसे असत्य सिद्ध कर दिया जाए तो भी उसका अस्तित्व मिट नहीं जाता। स्वीकार करने या न करने, ज्ञात होने अथवा अज्ञात रहने से किसी का होना न होना कोई मतलब नहीं रखता।

➢ सत् तत्त्व का नियामक

सर्व नियामक सत्ता की प्रबंध व्यवस्था का पता जीवन के आविर्भाव से ही चल जाता है। जीवन की उपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सृष्टि में ऐसा प्रबंध है कि वे सरलतापूर्वक पूरी हो जाया करें। साँस के बिना प्राणी एक क्षण को भी जीवित नहीं रह सकता, सो वह प्रचुर मात्रा में सर्वत्र उपलब्ध है। उसके बाद जल की आवश्यकता है, उसके लिए थोड़ा प्रयत्न करने से ही काम चल जाता है। तीसरी आवश्यकता अन्न की है, सो उसके लिए साधन न जुटा सकने वाले प्राणियों के लिए फल-फूल की प्राकृतिक व्यवस्था है, वही बुद्धिधारी जीव थोड़े प्रयत्न से अपनी आवश्यकता पूरी कर लेते हैं, इसके बाद के समस्त उपादान आवश्यकता के अनुपात में प्रयत्न और परिश्रम से प्राप्त होते रहते हैं। इन सार्वभौम

आवश्यकताओं की पूर्ति बिना संचालक-व्यवस्थापक के कैसे सम्भव हो सकती थी ?

नैतिकता के सर्वमान्य सिद्धांतों से न केवल जीव समुदाय जुड़ा है, अपितु कर्त्ता ने वह अनुशासन स्वयं पर भी पूरी तरह लागू किया है। भ्रूण जैसी अत्यधिक कोमल और संवेदनशील सत्ता को विकसित होने के लिए खुला छोड़ दिया जाए तो प्राणधारी के लिये उपयोगी वायु, ताप और प्राकृतिक परिस्थितियाँ ही उसे नष्ट-भ्रष्ट कर डालती, सो उसके लिये अति वातानुकूलित और सर्व सुविधा संपन्न निवास माँ के गर्भाशय की व्यवस्था क्या किसी अत्यधिक प्रबुद्ध सत्ता के अस्तित्व का प्रमाण नहीं ? जहाँ चारों तरफ से बंद कोठरी में ही उसे विकास की समस्त सुविधाएँ उचित मात्रा में मिलती रहती हैं, जन्म के पूर्व ही उसके लिये संतुलित आहार माँ के दूध जैसा उपलब्ध कराकर उसे अत्यधिक करुणा दरशाई। असहाय, असमर्थ शिशु के लिये न केवल भौतिक सहायताएँ, अपितु उसके लिये जिन भावनात्मक सुविधाओं की आवश्यकता थी, वह समस्त उसे कुटुंब में, समुदाय और समाज में मिल जाती हैं। इस तरह जीवनसत्ता परिपक्व रूप में, सामने आ जाता है, इतने पर भी यह कितने आश्चर्य की बात है कि दूसरों के सहारे बढ़ा, विकसित हुआ जीवन, केवल सामाजिक कर्त्तव्यों के प्रति कृतघ्नता का परिचय देने लगता है; अपितु अपने परमपिता, अपनी मूलसत्ता को ही भुला बैठता है।

इतने पर भी वह दयालु पिता उसे शिशु से यौवन में प्रवेश करते ही उसकी पितृत्व, कामेच्छा और भावनात्मक सहयोग की पूर्ति के लिये जोड़ी मिलाने, नर को नारी में, नारी को नर में अपनी पूर्णता प्राप्त करने की सुविधा जुटाई, रोग निरोध की तथा सांसारिक प्रतिकूलताओं में अपने अस्तित्व की रक्षा की जन्म-जात सुविधाएँ भी प्रदान की है। रोगों से लड़ने की शक्ति रक्त कणों में, शारीरिक अवयवों की सुरक्षा त्वचा के द्वारा, देखने के लिए आँखें, सुनने के लिए कान और विचार करने के लिए बढ़िया मस्तिष्क; इतनी सुंदर मशीन आज तक न कोई बना सका और न बना सकना संभव है, जो इच्छानुसार हर परिस्थिति

में मुड़ने, लचकने, सँभालने में सक्षम है। आँख जैसी रैटिना, कान जैसा पर्दा, गुर्दे जैसे सफाई अधिकारी, हृदय जैसे पोषण-संस्थान और पाँव जैसा सुंदर आर्क बनाने वाली सत्ता—कितनी बुद्धिमान होगी, इसकी तुलना न किसी इंजीनियर से हो सकती है, न डॉक्टर से। वह प्रत्येक कला-कौशल का ज्ञाता, सर्व निष्णात् और सर्व प्रभुतासंपन्न दानी केवल परमात्मा ही हो सकता है, इससे कम मानना न केवल उस परमात्मा की अवमानना होगी अपितु, यह एक प्रकार से स्वयं का ही आत्मघात होगा।

इतने पर ही उसके अनुदान समाप्त हो नहीं हो जाते, अग्नि में चिनगारी, पदार्थ में परमाणु, सूर्य में किरणों की तरह, वह स्वयं भी मनुष्य की हृदय गुहा में बैठकर उसे प्रतिपल आत्मोत्कर्ष की प्रेरणा देता रहता है। गलत मार्ग पर चलने से पहले ही उसकी प्रेरणा रोकती है, पर मनुष्य अंतःकरण की उस पुकार को अनसुनी, कर स्वेच्छाचारिता बरतता और उस अपराध का दंड, रोग, शोक, क्लेश, कलह और मानसिक संताप आदि रूपों में भुगतता रहता है। फिर भी उसकी वासनाएँ शांत नहीं होतीं। वह अपनी वासनाओं की, तृष्णा की, अतृप्त कामनाओं की प्यास बुझाने के लिए मानवेतर योनियों में भटकता है, तो भी उसकी दया, करुणा, उदारता एक पल को भी साथ नहीं छोड़ती और उसे निरंतर ऊपर उठने, कामनाओं से मुक्ति पाकर शाश्वत, सनातन और दिव्य आनंद की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती-रहती है। फिर भी इस सत्ता के अजस्र अनुदानों की ओर से आँख फेरकर मनुष्य प्यासा का प्यासा बना रहता है। माया के मूढ़ भ्रमजाल में पड़ा जीवन के बहुमूल्य क्षण मिट्टी के मोल नष्ट करता रहता है।

वैज्ञानिक सृष्टि की नियामक विधि-व्यवस्था प्रत्येक अणु में विद्यमान दिव्य चेतना को नहीं झुठलाती। हरबर्ट स्पेंसर की दृष्टि में भगवान एक विराट शक्ति है, जो संसार की सब गतिविधियों का नियंत्रण उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार घर का मुखिया, गाँव का प्रधान, जिले का कलेक्टर और प्रांत का गवर्नर। राज्य के नियमों का हम इसलिए पालन करते हैं, क्योंकि हमें राजदंड का

भय होता है। नैतिक नियमों का पालन न करने पर हमें भय लगता है, जबकि हम उसके लिए पूर्ण स्वतंत्र होते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि संसार में कोई सर्वोच्च सत्ता काम करती है। निर्भीक व्यक्ति, नैतिक व्यक्ति ही हो सकता है। इस तथ्य से वह भी स्पष्ट है कि वह प्रजावत्सल और न्यायकारी भी है।

दार्शनिक कांट ने स्पेंसर के कथन को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—नैतिक नियमों की स्वीकृति ही परमात्मा के अस्तित्व का प्रणाम और पूर्ण नैतिकता ही उसका स्वरूप है। संसार का बुरे से बुरा व्यक्ति भी किसी न किसी के प्रति नैतिक अवश्य होता है। चोर, डकैत और कसाई तक अपने बच्चों के प्रति दयालु और कर्त्तव्य परायण होते हैं, जबकि वे जीवन भर कुत्सित कर्म ही करते हैं। अपने भीतर से नैतिक नियमों की स्वीकृति इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि संसार केवल नैतिकता के लिए ही जीवित है। उसी से संसार का निर्माण, पालन और पोषण हो रहा है। इसलिए परमात्मा नैतिक शक्ति के रूप में माना जाने योग्य है।

हिब्रू ग्रंथों में ईश्वर को 'जेनोवाह' कहा गया है। जेनोवाह का शाब्दिक अर्थ है—वह जो सदैव नीति ही प्रदान करता है। दार्शनिक प्लेटो ने उसे—"अच्छाई का विचार" कहा है। संसार के प्रत्येक व्यक्ति यहाँ तक कि जीव-जंतुओं में भी अच्छाई की चाह रहती है। अच्छाई में आनंद और आत्म-तृप्ति मिलती है। अच्छाई—शरीर और सौंदर्य की, जो संयम और सदाचार द्वारा सुरक्षित हो, अच्छाई समाज की जो ईमानदारी, नेकनीयती, विश्वास, सहयोग और परस्पर प्रेम व भाईचारे की भावना से सुरक्षित हो, अच्छाई प्रकृति की जो रंग-बिरंगे फूलों, भोले-भाले पशु-पक्षियों के कलरव उनकी क्रीड़ा द्वारा सुरक्षित हैं। इस तरह संसार में सर्वत्र अच्छाई के दर्शन करके प्रसन्नता अनुभव करते हैं। परमात्मा इस तरह अच्छाई का वह बीज हैं, जो आँखों को दिव्य मनोरम और बहुत प्यारा लगता है।

❑ ❑

ईश्वर ज्वाला है और आत्मा चिनगारी

ईश्वर वह चेतना शक्ति है, जो ब्रह्मांड के भीतर और बाहर जो कुछ है, उस सबमें संव्याप्त है। उनके अगणित क्रिया-कलापों में एक कार्य इस प्रकृति का संचालन भी है। प्रकृति के अंतर्गत जड़-पदार्थ और चेतना के कलेवर शरीर, इन दोनों को सम्मिलित कर सकते हैं। प्रकृति और पुरुष का युग्म इसी दृष्टि से निरूपित हुआ है, जड़ और चेतन का सम्मिश्रण ही अपना यह विश्व है। इस विश्व की परिधि में ही हमारी इच्छाएँ, भाव-संवेदनाएँ, विचारणाएँ एवं गतिविधियाँ सीमित हैं। मस्तिष्क का निर्माण जिन तत्त्वों से हुआ है। उसके लिए इतना ही संभव है कि इस ज्ञात एवं अविज्ञात विश्व-ब्रह्मांड की परिधि में ही सोचे, निष्कर्ष निकाले और जो कुछ संभव हो वह उसी परिधि में रहकर करें।

विज्ञान अनुसंधान के आधार पर प्रकृति के थोड़े-से रहस्यों का उद्घाटन अभी संभव हो सका है। जो जानना शेष है, उसकी तुलना में उपलब्ध जानकारियाँ नगण्य हैं। अणु ऊर्जा अपने समय की बड़ी उपलब्धि मानी जाती है, पर मूर्धन्य विज्ञानवेत्ताओं का कथन है कि सूक्ष्मता की जितनी गहरी परतों में प्रवेश किया जाएगा, उतनी ही अधिक प्रखरता का रहस्य विदित होता जाएगा। ढेले की तुलना में अणु शक्ति का चमत्कार अत्यधिक है। ठीक इसी प्रकार समूचे अणुपिंड की तुलना में उसका मध्यवर्ती नाभिक, न्यूक्लियस असंख्य गुनी शक्ति छिपाए बैठा है। अणु को सौर-मंडल कहा जाए तो उसका मध्यवर्ती नाभिक सूर्य कहा जाएगा। सौर-मंडल के सभी ग्रह-उपग्रहों को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सूर्य से ही अनुदान मिलते हैं और उसी आधार पर सौर-मंडल का वर्तमान ढाँचा इस रूप में चल रहा है। यदि सूर्य नष्ट हो जाएगा तो फिर सौर-मंडल का सीराजा ही बिखर जाएगा। तब यह पता भी

न चलेगा कि प्रस्तुत ग्रह-उपग्रह अंतरिक्ष में न जाने कहाँ विलीन हो जाएँगे और उनका जाने क्या अंत होगा ? अणु का मध्यवर्ती नाभिक कितना शक्तिशाली है और उसकी क्षमता जैसे अणु परिवार का संचालन कर रही है, इस बारीकी पर विचार करने मात्र से विज्ञानी मस्तिष्क चकित रह जाता है। कौन कहे—न्यूक्लियस के भीतर भी और कोई शक्ति परिवार काम कर रही हो और फिर उसके भीतर कोई और जादूगरी बसी हुई हो। प्रतिविश्व—ऐंटीयुनिवर्स—प्रतिकण एंटीएटम—की चर्चा इन दिनों जोरों पर है। कहा जाता है कि अपनी दुनिया के ठीक पिछवाड़े, बिलकुल उससे सटी हुई, एक और जादुई दुनिया है। उस अविज्ञात की सामर्थ्य इतनी अधिक आँकी जाती है, जितनी कि शरीर की तुलना में आत्मा की। प्रतिकण और प्रतिविश्व के रहस्यों का पता चल जाए और उस पर किसी प्रकार अधिकार हो जाए तो फिर समझना चाहिए कि अभी प्राणी जगत का अधिपति कहलाने वाला मनुष्य तभी सच्चे अर्थों में सृष्टि का अधिपति कहलाने का दावा कर सकेगा।

यह तो सूक्ष्मता की चर्चा हुई। स्थूलता की—विस्तार की बात तो सोचते भी नहीं बनती। आँखों से दीखने वाले तारे, अपनी पृथ्वी से करोड़ों प्रकाश वर्ष दूर हैं। प्रकाश एक सेकंड में एक लाख छियासी हजार मील की चाल चलता है। इस हिसाब से एक वर्ष में जितनी दूरी पार कर ली जाए, वह एक प्रकाश वर्ष हुआ। कल्पना की जाए कि करोड़ों प्रकाश वर्ष में कितने मीलों की दूरी बनेगी। फिर यह तो दृश्य मात्र तारकों की बात है। अत्यधिक दूरी के कारण जो तारे आँखों से नहीं दीख पड़ते, उनकी दूरी की बात सोच सकना कल्पना शक्ति से बाहर की बात हो जाती है। अपनी निहारिका में ही एक अरब सूर्य आँके गये हैं। उनमें से कितने ही सूर्य से हजारों गुने बड़े हैं। अपनी निहारिका जैसी अरबों-खरबों निहारिकाएँ इस निखिल ब्रह्मांड में विद्यमान हैं। इस समस्त विस्तार

की बात सोच सकना अपने लिए कितना कठिन पड़ेगा, यह सहज ही समझा जा सकता है।

अणु की सूक्ष्मता और ब्रह्मांड की स्थूलता की गहराई, ऊँचाई का अनुमान करके हम चकित रह जाते हैं। अपनी पृथ्वी के प्रकृति-रहस्यों का अभी नगण्य-सा विवरण हमें ज्ञात हो सका है, फिर अन्यान्य ग्रह-नक्षत्रों की आणविक एवं रासायनिक संरचना से लेकर वहाँ की ऋतुओं, परिस्थितियों तक से हम कैसे जानकार हो सकते हैं। इन ग्रहों की संरचना एवं परिस्थितियाँ एक-दूसरे से इतनी अधिक भिन्न हैं कि प्रत्येक ग्रह की एक स्वतंत्र भौतिकी तैयार करनी होगी। हमें थोड़े-से वैज्ञानिक रहस्य ढूँढ़ने और उपयोग में लाने के लिए लाखों वर्ष लगाने पड़े हैं, फिर अगणित ग्रह-नक्षत्रों की उनके मध्यवर्ती आकाश की स्थिति जानने के लिए जितना समय, श्रम एवं साधन चाहिए; उन्हें जुटाया जा सकना अपने लिए कैसे संभव हो सकता है ?

वह सृष्टि की सूक्ष्मता और स्थूलता की चर्चा हुई। इसके भीतर जो चेतना काम कर रही है, उसकी दिशा-धाराएँ तो और भी विचित्र हैं। प्राणियों की आकृति-प्रकृति की विचित्रता देखते ही बनती है। प्रत्येक की अभिरुचि एवं जीवनयापन पद्धति ऐसी है, जिसका एक-दूसरे के साथ कोई तालमेल नहीं बैठता। मछली का चिंतन, रुझान, आहार, निर्वाह, प्रजनन, पुरुषार्थ, समाज आदि का लेखा-जोखा तैयार किया जाए तो वह नेतृत्व विज्ञान से किसी भी प्रकार कम न बैठेगा। फिर संसार भर में मछलियों की भी करोड़ों जातियाँ-उपजातियाँ हैं और उनमें परस्पर भारी भिन्नता पाई जाती है। इस सबका भी पृथक्-पृथक् शरीरशास्त्र, मनोविज्ञान, निर्वाह-विधान एवं उत्कर्ष-अपकर्ष का अपने-अपने ढंग का विधि-विधान है। यदि मछलियों को मनुष्यों की तरह ज्ञान और साधन मिले होते तो उन्होंने अपनी जातियों उप-जातियों का उतना बड़ा ज्ञान भंडार विनिर्मित किया होता, जिसे मानव विज्ञान से आगे न सही पीछे तो किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता था। बात अकेली मछली की

नहीं है। करोड़ों प्रकार के जल-जंतु हैं, उनकी जीवनयापन प्रक्रिया एक-दूसरे से अत्यधिक भिन्न है। जलचरों से आगे बढ़ा जाए तो थलचरों और नभचरों की दुनिया सामनें आती है। कृमि-कीटकों से लेकर हाथी तक के थलचर-मच्छर से लेकर गरुड़ तक के नभचरों की आकृति-प्रकृति भिन्नता भी देखते ही बनती है। उनके आचार-विचार, व्यवहार, स्वभाव एक-दूसरे से अत्यधिक भिन्न हैं। व्याघ्र और शावक की प्रकृति की तुलना की जाए तो उनके बीच बहुत थोड़ा सामंजस्य बैठेगा। अन्यथा उनकी निर्वाह पद्धति में लगभग प्रतिकूलता ही दृष्टिगोचर होगी। इन असंख्य प्राणियों की जीवन-पद्धति के पीछे जो चेतना तत्त्व काम करता है, उसकी रीति-नीति कितनी भिन्नता अपने में सँजोये हुए है, यह देखकर जड़ प्रकृति की विचित्रता पर जितना आश्चर्य होता था। चैतन्य में भी कहीं अधिक हैरानी होती है। कहना न होगा कि सर्वव्यापी ईश्वरीय सत्ता के ही यह क्रिया कौतुक हैं।

सूक्ष्म जीवों की दुनिया और भी विचित्र है। आँखों से न दीख पड़ने वाले प्राणी हवा में—पानी में तैरते हैं तथा मिट्टी में बिखरे पड़े रहते हैं और शरीर के भीतर जीवाणुओं के रूप में विद्यमान हैं। जीवाणु एवं विषाणु विज्ञान इस क्षेत्र की खोज को कहीं से कहीं घसीटे लिये जा रहे हैं। शरीरशास्त्री, चिकित्साशास्त्री हैरान हैं कि इन शूरवीरों की अजेय सेना को वशवर्ती करने के लिए क्या उपाय किया जाय ? मलेरिया का मच्छर अरबों-खरबों की डी. डी. टी. खाकर भी अजर-अमर सिद्ध हो रहा है तो रोगाणुओं, विषाणुओं जैसे सूक्ष्म सत्ताधारी सूक्ष्म जीवों का सामना क्यों कर हो सकेगा ? सशस्त्र सेनाओं को परास्त करने के उपाय सोचे और साधन जुटाए जा सकते हैं, पर इन जीवाणुओं से निपटने का रास्ता ढूँढ़ने में बुद्धि हतप्रभ होकर बैठ जाती है। इन सूक्ष्म जीवों की अपनी दुनिया है। यदि उनमें से भी कोई अपनी जाति का इतिहास एवं क्रिया-कलाप प्रस्तुत कर सके तो प्रतीत होगा कि मनुष्यों की दुनिया उनकी तुलना में कितनी छोटी और कितनी पिछड़ी हुई है ?

अभी रासायनिक पदार्थों का, योगिकों का, अणुओं का, तत्त्वों का विज्ञान अपनी जगह पर अलग ही समस्याओं और विवेचनाओं का ताना-बाना लिये खड़ा है। सृष्टि के किसी भी क्षेत्र में नजर दौड़ाई जाए, उधर ही शोध के लिए सुविस्तृत क्षेत्र खड़ा हुआ मिलेगा। मनुष्य को प्रस्तुत जानकारियों पर गर्व हो सकता है, पर जो जानने को शेष पड़ा है, वह उतना पड़ा है कि समग्र जानकारी मिल सकने की बात असंभव ही लगती है। मनुष्य की तुच्छता का—उसकी उपलब्धियों की नगण्यता का तब बोध होता है, जब थोड़े-से मोटे-मोटे आधारों से आगे बढ़कर गहराई में उतरा जाता है या ऊँचाई पर चढ़ा जाता है।

ऊपर की पंक्तियाँ प्रकृति के जड़-पदार्थों और जीव-कलेवरों के संबंध में थोड़ी-सी झाँकी कराती हैं और बताती हैं कि यह प्रसार-विस्तार कितना अधिक है और उसे समझ सकने में मानवी बुद्धि कितनी स्वल्प है ? सृष्टि-वैभव को भी अकल्पनीय, अनिवर्चनीय एवं अगम्य ही कहा जा सकता है। फिर उस परमेश्वर के स्वरूप, उद्देश्य एवं क्रिया-कलाप को समझ सकने की बात कैसे बने ? जो इस सूक्ष्म, स्थूल, चल, स्थिर प्रकृति से भीतर ही नहीं बाहर भी है और यह सारा बालू का महल उसने क्रीड़ा विनोद के लिये रचकर खड़ा कर लिया है।

➢ परमसत्ता का क्रीड़ा-विनोद

कांट, हेगल, प्लेटो, एरिस्टाटल आदि प्रकृति विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि एक ऐसी सत्ता है, जो ब्रह्मांड की रचयिता है या स्वयं ब्रह्मांड है, किंतु इनमें से किसी ने भी पूर्ण विचार देने में अपने आपको समर्थ नहीं पाया। संसार में जितने भी धर्म हैं, वह सब ईश्वरीय अस्तित्व को मानते हैं। प्रत्येक धर्म अपने ब्रह्म के प्रतिपादन में अनेक प्रकार के सिद्धांत और कथाएँ प्रस्तुत करते हैं, किंतु उस सत्ता का सविवेक प्रदर्शन इनमें से कोई नहीं कर सकता, तथापि वे उच्च सत्ता को सर्वशक्ति मानता पर अविश्वास नहीं करते।

ईश्वर संबंधी अनुसंधान की वैज्ञानिक प्रक्रिया डार्विन से प्रारंभ होती है। डार्विन एक महान जीवशास्त्री थे, उन्होंने देश-विदेश के प्राणियों, पशुओं और वनस्पतियों का गहन अध्ययन किया और १८५६ एवं १८७१ में प्रकाशित अपने दो ग्रंथों में यह सिद्धांत स्थापित किया कि संसार के सभी जीव एक ही आदि जीव के विकसित और परिवर्तित रूप हैं। उन्होंने बताया कि संसार में जीवों की जितनी भी जातियाँ और उपजातियाँ हैं, उनमें बड़ी विलक्षण समानताएँ और असमानताएँ हैं। समानता यह है कि उन सभी की रचना एक ही प्रकार के तत्त्व से हुई है और असमानता यह है, उनकी रासायनिक बनावट सबसे अलग-अलग है। आनुवंशिकता का आधार रासायनिक स्थिति है, उसकी प्रतिक्रिया में भाग लेने वाली क्षमता चाहे कितनी सूक्ष्म क्यों न हो ?

इसके बाद मेंडल, हालैंड के ह्यूगो दव्री ने भी अनेक प्रकार के प्रयोग किये और यह पाया कि जीव में आनुवंशिक-विकास माता-पिता के सूक्ष्म गुण सूत्रों (क्रोमोसोम) पर आधारित हैं। हॉर्वर्ड यूनिवर्सिटी (अमेरिका) के डा. जेम्स वाटसन और कैंब्रिज यूनिवर्सिटी (इंग्लैंड) के डा. फ्रांसिस क्रिक ने भी अनेक प्रयोगों द्वारा शरीर के कोशों (सेल्स) की भीतरी बनावट का विस्तृत अध्ययन किया और गुण सूत्रों (क्रोमोसोम) की खोज की। जीन्स (गुण सूत्रों में एक प्रकार की गाँठें उसी की विस्तृत खोज का परिणाम थीं। इन वैज्ञानिकों ने बताया कि मनुष्य शरीर में डोरे की शक्ल में पाए जाने वाले गुण-सूत्रों को यदि खींचकर बढ़ा दिया जाए तो उससे संपूर्ण ब्रह्मांड को नापा जा सकता है। बस इससे अधिक और मूल स्रोत की जानकारी वैज्ञानिक नहीं लगा पाये, तब से उनकी खोजों की दिशा और ही है। उस एक अक्षर, अविनाशी और सर्वव्यापी तत्त्व के गुणों का पता लगाना उनके लिये संभव न हुआ, जो प्रत्येक अणु में सृजन या विनाश की क्रिया में भाग लेता है। हाँ इतना अवश्य हुआ कि वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया—(१) सारा

जीव जगत एक ही तत्त्व से विकसित हुआ है (२) गुणों के आधार पर जीवित शरीरों का विकास होता है।

यद्यपि यह जानकारियाँ अभी नितांत अपूर्ण हैं, तो भी उनमें मनुष्य को सत्य की यथार्थ जानकारी के लिए प्रेरणा अवश्य मिलती हैं। 'कंटेंप्रेरी थाट ऑफ ब्रिटेन' के विद्वान लेखक ए. एन. बिडगरी लिखते हैं कि वे तत्त्व जो जीवन का निर्माण करते हैं और जिनकी वैज्ञानिकों ने जानकारी की है, उनमें यथार्थ मूल्यांकन के अनुपात में बहुत कमी है, आज आवश्यकता इस बात की है कि सांसारिक अस्तित्व से भी अधिक विशाल मानवीय अस्तित्व क्या है ? इसका पता लगाया जाए। विज्ञान से ही नहीं, बौद्धिक दृष्टि से भी उसकी खोज की जानी चाहिए। हमारा भौतिक अस्तित्व अर्थात हमारे शरीर की रचना और इससे संबंधित संस्कृति का मानव के पूर्ण अस्तित्व से कोई तालमेल नहीं है। इससे हमारी भावनात्मक संतुष्टि नहीं हो सकती, इसलिये हमें जीवन के मूल स्रोत की खोज करनी पड़ेगी। अपने अतीत और भविष्य के बीच थोड़ा-सा वर्तमान है, क्या हमें उतने से ही संतोष मिल सकता है ? हमें अपने अतीत की स्थिति और भविष्य में हमारी चेतना का क्या होगा ? हम संसार में क्यों है और क्या कुछ ऐसे आधार हैं, जिनसे बँधे होने के कारण हम संसार में हैं, इनकी खोज होनी चाहिए।" इन पंक्तियों में वही बात प्रतिध्वनित होती है, जो ऊपर कही गई है।" विज्ञान ने निष्कर्ष भले ही न दिया हो, पर उसने जिज्ञासा देकर मनुष्य का कल्याण ही किया है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' ब्रह्म की पहचान के लिये हम तभी तत्पर होते हैं, जब उस मूल स्रोत के प्रति हमारी जिज्ञासा जाग पड़ती है।

इस बिंदु पर पहुँचकर हम कह सकते हैं कि ब्रह्मविद्या का अर्थ और इति दोनों ही वेदांत धर्म में बहुत पहले से हैं। 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति', एक नूर से सब जग उपजिया', **'संकल्पयति यन्नाम प्रथमोऽसौ प्रजापतिः, तत्तदेवाशु भवति तस्येदं कल्पनं जगत्।** योग वाशिष्ठ ६।२।१८६।६, सृष्टि के आदि में एक ब्रह्मा ही

था, उसने जैसे-जैसे संकल्प किया, वैसे-वैसे यह कल्पना जगत बनता गया। **'एक मेवाद्वयं ब्रह्म'** (छान्दोग्य ६।२।१) वही एक अद्वितीय और ब्रह्म होकर विराजता है। **एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेतो केवलोनिर्गुणश्च।** श्वेताश्व—६।११,

वही एक देव सब भूतों में ओत-प्रोत होकर सबकी अंतरात्मा के रूप में सर्वत्र व्याप्त है, वह इस कर्मरूप शरीर का अध्यक्ष है। निर्गुण होते हुए भी चेतना-शक्तियुक्त है। पूर्व में क्या किया है ? अब क्या कर रहा है ? जीव की इस संपूर्ण क्रिया साक्षी वही है, वही सब भूतों में प्राण धारण करके जीव रूप से वास करता है।

उपरोक्त आख्यानों और पाश्चात्य वैज्ञानिकों की इस खोज में कि—"संसार के समस्त पदार्थ एक ही तत्त्व से बने हुए हैं" जबर्दस्त साम्य है। वेदांत के यह प्रतिपादन आज से लाखों वर्ष पूर्व लिखे गये हैं, इसलिये जब हम अकेले वेदांत की कसौटी पर लाते हैं तो उसकी परिपूर्णता और वैज्ञानिकता में कोई संदेह नहीं रह जाता। जब तक वह एक था, तब तक 'पूर्ण परब्रह्म' था, जब वही अपनी वासनाओं के कारण जीव रूप में आया तो अद्वैत से द्वैत बना, जीव जब अपने सांसारिक भाव से अपने शाश्वत अंश और मूल ब्रह्म पर विचार करता है तो वही स्थिति 'त्रैत' कहलाती है। इसी का विकास और आत्मा की परमात्मा में लीन कर देने पर शरीरधारी की जो स्थिति होती है, वही विशिष्टाद्वैत के नाम से कहा गया है, इसमें न कहीं कोई भ्रांति है, न मत अनैक्य। वेदांत ने यह प्रतिपादन प्रत्येक स्थिति के व्यक्ति की समझ के लिए किए हैं, वैसे सिद्धांत में वह वैज्ञानिक मान्यताओं पर ही टिका हुआ है। कैवल्योपनिषद में पाश्चात्य वैज्ञानिक मान्यताओं और अपने पूर्वात्य दर्शन को एक स्थान पर लाकर दोनों में सामंजस्य व्यक्त किया गया है और कहा है—

यत् परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्।। कै. १६

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं
विश्वमिदं विचित्रम्।।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽमीशो
हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि।। २०।।

अर्थात् जिस परब्रह्म का कभी नाश नहीं होता, जिसे सूक्ष्म यंत्रों से भी नहीं देखा जा सकता, जो इस संसार के समस्त कार्य और कारण का आधारभूत है, जो सब भूतों की आत्मा है, वही तुम हो, तुम वही हो और "मैं छोटे-से भी छोटा और बड़े से बड़ा हूँ, इस अद्भुत संसार को मेरा ही स्वरूप मानना चाहिये। मैं ही शिव और ब्रह्मा स्वरूप हूँ, मैं ही परमात्मा और विराट् पुरुष हूँ।"

उपरोक्त कथन में और वैज्ञानिकों द्वारा जीव-कोश से संबंधित जो अब तक की उपलब्धियाँ हैं, उनमें पाव-रत्ती का भी अंतर नहीं है। प्रत्येक जीव-कोश का नाभिक (न्यूक्लियस) अविनाशी तत्त्व है, वह स्वयं नष्ट नहीं होता पर वैसे ही अनेक कोश (सेल्स) बना लेने की क्षमता से परिपूर्ण है। इस तरह कोशिका की चेतना को ही ब्रह्म की इकाई कह सकते हैं, चूँकि वह एक आवेश, शक्ति या सत्ता है, चेतन है, इसलिये वह अनेकों अणुओं में भी व्याप्त इकाई ही है। इस स्थिति को जीव भाव कह सकते हैं, पर तो भी उसमें पूर्ण ब्रह्म की सब क्षमताएँ उसी प्रकार विद्यमान हैं, जैसे समुद्र की एक बूँद में पानी के सब गुण विद्यमान होते हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि शरीर में ६ खरब कोशिकाएँ हैं, इन सबकी सूक्ष्म चेतना की पूर्ण जानकारी वैज्ञानिकों को नहीं मिली, पर हमारा वेदांत उसे अहंभाव के रूप में देखता है और यह कहता है कि चेतना की अहंभाव की जिस प्रकार की वस्तु में रुचि या वासना बनी रहती है, वह वैसे ही पदार्थों द्वारा शरीर का निर्माण किया करता है, नष्ट नहीं होता, वही इच्छाएँ, अनुभूति, संवेग, संकल्प और जो भी सचेतन क्रियाएँ हैं करता या कराता है, पदार्थ में यह शक्ति नहीं है, क्योंकि ब्रह्म दृश्य नहीं विचार है, उसे 'प्रज्ञा' भी कहते हैं।

➢ विचार से भी परे

परब्रह्म को विचार इसलिये कहा गया है कि वह सूक्ष्म है, अन्यथा शास्त्रकारों ने उसे अचिंत्य, अगोचर और अगम्य कहा है। उसकी व्याख्या-विवेचना में तत्त्ववेत्ताओं ने कुछ चर्चा की है, पर साथ ही नेति कहकर अपने ज्ञान परिधि की स्वल्पता स्वीकार कर ली है। वस्तुतः समग्र ब्रह्म का विवेचन बुद्धि, विज्ञान एवं साधनों के माध्यम से संभव हो ही नहीं सकता। तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि ईश्वर प्राप्ति की, ईश्वर दर्शन की जो चर्चाएँ होती रहती हैं, वे क्या हैं ? यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि जीव और ब्रह्म की मिलन पृष्ठभूमि के रूप में जिस ईश्वर की विवेचना होती है, उसी का साक्षात्कार एवं अनुभव संभव है।

आकाश और धरती जहाँ मिलते हैं, उसे अंतरिक्ष कहते हैं। अंतरिक्ष का सुहावना दृश्य सूर्योदय और सूर्यास्त के समय प्रातः- सायं देखा जा सकता है। रंगों के मिलने से एक तीसरा रंग बनता है। भूमि और बीज के समन्वय की प्रतिक्रिया अंकुर के रूप में फूटती है। पति-पत्नी का मिलन अभिनव उल्लास के रूप में प्रकट होता है और प्रतिफल संतान के रूप में सामने आता है। जीव और ब्रह्म के मिलन की प्रतिक्रिया को ईश्वर कह सकते हैं। गैस और गैस मिलकर पानी के रूप में परिणत हो जाती है। शरीर और प्राण का मिलन जीवन के रूप में दृष्टिगोचर होता है। आग और जल के मिलने से भाप बनती है। निगेटिव और पॉजिटिव धाराएँ मिलने पर शक्तिशाली विद्युत प्रवाह गतिशील होता है। हम उसी ईश्वर से परिचित होते हैं, जो आत्मा से परमात्मा के मिलन की प्रतिक्रिया के रूप में अनुभव की जाती है।

वेदांत दर्शन में ईश्वर के रूप-स्वरूप की जितने तात्त्विक स्वरूप की विवेचना की गई है, उतनी अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। **'तत्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'शिवोऽहम्' 'सच्चिदानन्दोहम्' सोऽहम्** आदि सूत्रों में यह रहस्योद्‌घाटन किया गया है कि यह आत्मा ही ब्रह्म है। यहाँ आत्मा से तात्पर्य पवित्र और परिष्कृत चेतना से है।

अतिमानस्-सुपरईगो-पूर्णपुरुष-भगवान परमहंस—स्थितप्रज्ञ आदि शब्दों में व्यक्तित्व के उस उच्चस्तर का संकेत है, जिसे देवात्मा एवं परमात्मा भी कहा जाता है। इसी स्थिति को उपलब्ध कर लेना आत्म साक्षात्कार, ईश्वर प्राप्ति आदि के नाम से निरूपित किया गया है। बंधन-मुक्ति या जीवन-मुक्ति इसी स्थिति को कहते हैं।

आत्मा चिनगारी है और परमात्मा ज्वाला। ज्वाला की समस्त संभावनाएँ चिंगारी में विद्यमान हैं। अवसर मिले तो वह सहज ही अपना प्रचंड रूप धारण करके लघु से महान बन सकता है। बीज में वृक्ष की समस्त संभावनाएँ विद्यमान हैं। अवसर न मिले तो बीज चिरकाल तक उसी क्षुद्र स्थिति में पड़ा रह सकता है, किंतु यदि परिस्थिति बन जाए तो वही बीज विशाल वृक्ष के रूप में विकसित हुआ दृष्टिगोचर हो सकता है। छोटे-से शुक्राणु में एक पूर्ण मनुष्य अपने साथ अगणित वंश परंपराएँ और विशेषताएँ छिपाए रहता है। अवसर न मिले तो वह उसी स्थिति में बना रह सकता है, किंतु यदि उसे गर्भ के रूप में विकसित होने की परिस्थिति मिल जाए तो एक समर्थ मनुष्य का रूप धारंण करने में उसे कोई कठिनाई न होगी। अणु की संरचना सौर-मंडल के समतुल्य है। अंतर मात्र आकार विस्तार का है। जीव ईश्वर का अंश है। अंश में अंशी के समस्त गुण पाए जाते हैं। सोने के बड़े और छोटे कण में विस्तार भर का अंतर है, तात्त्विक विश्लेषण में उनके बीच कोई भेद नहीं किया जा सकता।

उपासना और साधना के छैनी-हथौड़े से जीव के अनगढ़ रूप को कलात्मक देव प्रतिमा के रूप परिणत किया जाता है। अध्यात्म शब्द का तात्पर्य ही आत्मा का दर्शन एवं विज्ञान है। इस संदर्भ के सारे क्रिया-कलापों का निर्माण-निर्धारण मात्र एक ही प्रयोजन के लिए किया जाता है कि व्यक्तित्व को—चेतना की उच्चतम, परिष्कृत-सुविकसित, सुसंस्कृत स्थिति में पहुँचा दिया जाए। इस लक्ष्य की उपलब्धि का नाम ही ईश्वर प्राप्ति है। आत्म साक्षात्कार एवं ईश्वर दर्शन इन दोनों का अर्थ एक ही है। आत्मा में परमात्मा

की झाँकी अथवा परमात्मा में आत्मा की सत्ता का विस्तार। द्वैत को मिटाकर अद्वैत की प्राप्ति मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। इसकी पूर्ति के लिए या तो ईश्वर को मनुष्य स्तर का बनना पड़ेगा या मनुष्य को ईश्वर तुल्य बनने का प्रबल पुरुषार्थ करना पड़ेगा।

अध्यात्म क्षेत्र की भ्रांतियाँ भी कम नहीं है। बाल-बुद्धि के लोग आत्मा पर चढ़ें कषाय-कल्मषों को काटने के लिये जो संघर्ष करना पड़ता है, उस झंझट से कतराते हैं और सस्ता पगडंडी ढूँढ़ते हैं। वे सोचते हैं, पूजा-पत्री के सस्ते क्रिया-कृत्यों से ईश्वर को लुभाया, फुसलाया जा सकता है और उसे मनुष्य स्तर का बनने के लिये सहमत किया जा सकता है, वे सोचते हैं, हम जिस घटिया स्तर पर हैं उसी पर बने रहेंगे। प्रस्तुत दृष्टिकोण एवं क्रिया-कलाप में कोई हेर-फेर न करना पड़ेगा। ईश्वर को अनुकूल बनाने के लिए इतना ही काफी है कि पंडितों की बताई पूजा-पत्री का उपचार पूरा कर दिया जाए। इसके बाद ईश्वर मनुष्य का आज्ञानुवर्ती बन जाता है और उचित-अनुचित जो भी मनोकामनाएँ की जाएँ उन्हें पूरी करने के लिए तत्पर खड़ा रहता है। आमतौर से उपासना क्षेत्र में यही भ्रांति सिर से पैर तक छाई हुई है।" मनोकामना पूर्ति के लिए पूजा-पत्री का सिद्धांत तथाकथित भक्तजनों के मन में गहराई तक घुसा बैठा है। वे उपासना की सार्थकता तभी मानते हैं जब उनके मनोरथ पूरे होते चलें। इसमें कमी पड़े तो वे देवता, मंत्र, पूजा, सभी को भरपेट गालियाँ देते देखे जाते हैं। कैसी विचित्र विडंबना है कि छोटा-सा गंदा नाला गंगा को अपने चँगुल में जकड़े और यह हिम्मत न जुटाए कि अपने को समर्पित करके गंगाजल कहलाए।

परब्रह्म एक ऐसी चेतना है जो ब्रह्मांड के भीतर और बाहर एक नियम व्यवस्था के रूप में ओत-प्रोत हो रही है। उसके सारे क्रिया-कलाप एक सुनियोजित विधि-विधान के अनुसार गतिशील हो रहे हैं। उन नियमों का पालन करने वाले अपनी बुद्धिमत्ता अथवा ईश्वर की अनुकंपा का लाभ उठाते हैं। भगवान की बिजली से उपमा दी जा सकती है। बिजली का ठीक उपयोग करने पर उससे

अनेक प्रकार के यंत्र चलाए और लाभ उठाये जा सकते हैं। पर निर्धारित नियमों का उल्लंघन किया जाए तो बिजली उन्हीं भक्त सेवकों की जान ले लेती हैं, जिन्होंने उसे घर बुलाने में ढेरों पैसा, मनोयोग एवं समय लगाया था। उपासना ईश्वर को रिझाने के लिए नहीं, आत्म-परिष्कार के लिए की जाती है। छोटी मोटर में कम पावर रहती है और थोड़ा काम होता है। बड़ी मोटर लगा देने से अधिक पावर मिलने लगती है और ज्यादा लाभ मिलता है। बिजली घर में तो प्रचंड विद्युत् भंडार भरा पड़ा है। उससे गिड़गिड़ाकर अधिक शक्ति देने की प्रार्थना तब तक निरर्थक ही जाती रहेगी जब तक घर का फिटिंग, मीटर आदि का स्तर ऊँचा न उठाया जाए। प्रार्थना के सत्परिणामों की बहुत चर्चा होती रहती है। भगवत्-कृपा के अनेक चमत्कारों का वर्णन सुनने को मिलता रहता है। उस सत्य के पीछे यह तथ्य अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ मिलेगा कि भक्त ने पूजा-उपासना के प्रति गहरी श्रद्धा उत्पन्न की और उस श्रद्धा ने उसके चिंतन एवं कर्त्तृत्व को देवोपम बना दिया। जहाँ यह शर्त पूरी की गई है वहीं निश्चित् रूप से ईश्वरीय अनुकंपा की वर्षा भी हुई है, पर जहाँ फुसलाने की धूर्तता को भक्ति का नाम दिया गया है वहाँ निराशा ही हाथ लगी है।

ईश्वर का सृष्टि-विस्तार अकल्पनीय है। उसमें निवास करने वाले प्राणियों की संख्या का निर्धारण भी असंभव है। पृथ्वी पर रहने वाले जलचर, थलचर, नभचर, दृश्य, अदृश्य प्राणियों की संख्या कुल मिलाकर इतनी बड़ी है कि उनके अंश लिखते-लिखते इस धरती को कागज बना लेने से भी काम न चलेगा। इतने प्राणियों के जीवनक्रम में व्यक्तिगत हस्तक्षेप करते रहना—अलग-अलग नीति निर्धारित करना और फिर उसे प्रार्थना-अपेक्षा के कारण बदलते रहना ईश्वर के लिये भी संभव नहीं हो सकता। ऐसा करने से तो उस पर व्यक्तिवादी द्वेष का आक्षेप लगेगा और सृष्टि-संतुलन का कोई आधार ही न रहेगा। ईश्वर ने नियम-मर्यादा के बंधनों में क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में अपनी सारी व्यवस्था बना दी है और उसी चक्र में भ्रमण करते हुये,

जीवधारी अपने पुरुषार्थ और प्रमाद का भला-बुरा परिणाम भुगतते रहते हैं। ईश्वर दृष्टा और साक्षी की तरह यह सब देखता रहता है। उसकी जैसी महान् सत्ता के लिये यही उचित है और यही शोभनीय। पूजा करने वालों के प्रति राग और न करने वालों के प्रति उपेक्षा अथवा द्वेष-नीति यदि उसने अपनाई होती तो निश्चय ही इस संसार में भ्रष्टाचार एवं अव्यवस्था का कोई अंत ही न रहता। जो लोग इस दृष्टि से पूजा-उपासना करते हैं कि उसके फलस्वरूप ईश्वर को फुसलाकर उससे मनोवांछाएँ पूरी करा ली जाएँगी, वे भारी भूल करते हैं। पूजा को कर्म व्यवस्था का प्रतिद्वंद्वी नहीं बनाया जा सकता। भगवान के अनुकूल हम बनें यह समझ में आने वाली बात है, पर उल्टा उसी को कठपुतली बनाकर, मर्जी मुताबिक नाचने की बात सोचना बचकानी ढिठाई के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हमें ईश्वर से व्यक्तिगत राग-द्वेष की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये वरन् उसकी विधि व्यवस्था के अनुरूप बनकर अधिकाधिक लाभान्वित होने के राजमार्ग पर चलना चाहिए।

भगवान को इष्टदेव बनाकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इष्ट का अर्थ है लक्ष्य। हम भगवान के समतुल्य बनें। उसी की जैसी उदारता, व्यापकता, व्यवस्था, उत्कृष्टता, तत्परता अपनाएँ, यही हमारी रीति-नीति होनी चाहिए। इस दिशा में जितना मनोयोगपूर्वक आगे बढ़ा जाएगा उसी अनुपात में ईश्वरीय संपर्क का आनंद और अनुग्रह का लाभ मिलेगा। वस्तुतः अध्यात्म साधना का एकमात्र उद्देश्य आत्मसत्ता को क्रमशः अधिकाधिक पवित्र और परिष्कृत बनाते जाना है। यही सुनिश्चित ईश्वर की प्राप्ति और साथ ही उस मार्ग पर चलने वालों को जो विभूतियाँ मिलती रही हैं, उन्हें उपलब्ध करने का राजमार्ग है।

❑ ❑

समर्थ सत्ता को खोजें

न्यूयार्क अमेरिका के एक डॉक्टर श्री रेमर की धर्मपत्नी विश्राम कर रही थीं। उनकी एक पुत्री—जेस्सी कुछ माह पूर्व ही अपनी दादी के पास केलिफोर्निया गई हुई थी। माँ-बेटी के बीच की भौगोलिक दूरी ३००० किलोमीटर थी। अकस्मात श्रीमती रेमर चीखकर पंलग से खड़ी हो गईं। डॉक्टर साहब दौड़े-दौड़े आए। पूछा क्या बात है ? श्रीमती रेमर ने कहा—मैंने अभी-अभी जेस्सी के चीखने की आवाज सुनी, ऐसा लगा वह किसी संकट में हैं। डॉक्टर ने धर्मपत्नी के शरीर का परीक्षण किया। हृदय, नाड़ी, रक्तचाप सभी असामान्य थे, उन्होंने ज्ञात करना चाहा, तुमने कोई स्वप्न तो नहीं देखा ? श्रीमती रेमर ने बताया कि वह बिलकुल जागृत अवस्था में थी, उन्हें भयंकर चीख के अतिरिक्त कुछ सुनाई नहीं पड़ा। मैंने आवाज पहचानी वह केवल जेस्सी की थी।

उस समय और कोई बात तो नहीं हुई, किंतु दो दिन तक घर में विलक्षण मायूसी छाई रही। तीसरे दिन वह निराशा की स्थिति पूर्ण वियोग में तब बदल गई, जब सचमुच जेस्सी के दुर्घटनाग्रस्त होने का तार मिला। आश्चर्य की बात यह थी कि श्रीमती रेमर ने जिस समय वह चीख सुनी, वह और जेस्सी के कार एक्सीडेंट, जिससे उसका प्राणांत हुआ—का समय एक ही था।

एक अन्य घटना—फ्रांस के रियर एडमिरल गैलरी की आत्मकथा से उद्धृत—'आठ घंटियाँ' (एट बेल्स) नामक उक्त आत्मकथा में गैलरी महाशय लिखते हैं—मुझे सोमवार को अपनी ड्यूटी पर जाना था। रविवार की रात जब मैं सोया तो स्वप्न देखा कि मैं अपने जहाज पर बैठा हूँ, जहाज चलने की तैयारी

में है। यात्री ऊपर आ रहे हैं, दो युवक आते हैं, मैंने उनसे नाम पूछा—एक ने अपना नाम डिकग्रेन्स दूसरे ने पाप-कनबे बताया। तभी जहाज में एकाएक विस्फोट हुआ, यहीं पर दोनों जख्मी होते हैं और पाप मर जाता है। स्वप्न इतनी गंभीर मनःस्थिति में देखा था कि सोकर उठने के बाद भी वह मानस पटल पर छाया रहा, जब कि आए दिन दिखने वाले स्वप्न जोर देने पर भी याद नहीं आते।

आश्चर्य वहाँ से प्रारंभ हुआ, जब मैंने आफिस जाकर जहाज के यात्रियों की लिस्ट पर दृष्टि दौड़ाई। मुझे यह देखकर भारी हैरानी हुई कि जो नाम इससे पहले कभी सुने भी नहीं थे—जो रात स्वप्न में देखे थे, वे सचमुच उस लिस्ट में थे। यह देखते ही हृदय किसी अज्ञात आशंका से भर गया। फिर भी जीवन की गति तो कोई न चलाना चाहे तो भी चलती है। जहाज ने ठीक समय पर प्रस्थान किया, पर अभी उसने अच्छी तरह बंदरगाह भी नहीं छोड़ा था कि एक इंजन में विस्फोट हुआ, केवल डिकग्रेन्स और पाप कनबे दुर्घटनाग्रस्त हुए, जिनमें पाप कनबे की तत्काल मृत्यु हो गई।

एक तीसरी घटना—डरहम की एक स्त्री से संबंधित है, पैरासाइकोलॉजी संस्थान कैलीफोर्निया के रिकार्ड से ली गई—डरहम की एक स्त्री अपने बच्चों के साथ स्नान के लिये निकली। घर में उस समय उक्त महिला अर्थात उस स्त्री की सास ही रह गई। अभी वह स्त्री वहाँ से कुछ सौ गज ही मोड़ पार कर गई होगी कि उसकी सास बुरी तरह चिल्लाई—बहू को खतरा है। पास-पड़ौस के लोग दौड़े और इस पागलपन पर हँसे भी। किंतु दो घंटे ही पश्चात शेरिफ ने सूचना दी कि रास्ते में एक्सीडेंट हो जाने से अस्पताल में महिला का प्राणांत हो गया है।

ऊपर एक ही तरह की तीन घटनाएँ दी हैं, जो न तो भाव संप्रेषण (टेलीपैथी) है और न ही परोक्षदर्शन (क्लेरवाऐंस)।

टेलीपैथी का अर्थ उस आभास से है, जिसमें किसी मित्र, परिचित, कुटुंबी या प्रिय परिजन द्वारा भावनाओं की अत्यधिक गहराई से याद किया गया हो और वह संवेदना उस व्यक्ति तक पहुँची हो। इसी तरह दूर दर्शन का अर्थ तो मात्र भौगोलिक दूरी को किसी अतींद्रिय क्षमता से पार कर किसी घटना का आभास पाया गया हो। ऊपर तीन घटनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। उनमें एक का संबंध वर्तमान से है तो शेष दो का अतीत और भविष्य से। जो हो रहा है वह देखा जा सकता है, जो हो चुका है—उसे भी जाना जा सकता है, किंतु अभी तक जो हुआ ही नहीं—यदि उसकी जानकारी हो जाती है, तो उसे न तो दूरदर्शन ही कहा जाएगा और न ही दूर-संचार। वास्तव में इस तरह की अनुभूतियाँ आए दिन हर किसी को होती रहती हैं और इनका मानव-जीवन से गहन आध्यात्मिक संबंध भी है, तथापि उन्हें समझ पाना हर किसी के लिये संभव नहीं होता।

वेदांत दर्शन के अनुसार—सृष्टि में एक 'ब्राह्मी चेतना' या परमात्मा ही एक ऐसा तत्त्व है, जो सर्वव्यापी है अर्थात ब्रह्मांड उसी में अवस्थित है। वह काल की सीमा से परे है अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों भी उसी में समाहित हैं। उक्त तीनों घटनाओं का उल्लेख करते हुए 'एक्प्लोरिंग साइकिक फिनॉमिना बियांड एंड मैटर' पुस्तक के लेखक श्री डी. स्टाक रोगों ने उक्त तथ्य का स्मरण कराते हुए लिखा है कि भावनाएँ तथा विचार 'प्राणशक्ति की स्फुरणा' (डिस्चार्ज आफ वाइटल फोर्स) के रूप में होती है। यह स्फुरणा यदि एक ही समय में एक-दूसरे को आत्मसात् करती है, तब तो वह दूर संचार हो सकता है, किंतु यदि वह समय की सीमाओं का अतिक्रमण करता है, तो उसका अर्थ यही होगा कि माध्यम की आधारभूत सत्ता या ब्राह्मी चेतना होती है। इस चेतना की कल्पना आइंस्टाइन ने भी सापेक्षवाद के सिद्धांत में की है और यह लिखा है कि—यदि प्रकाश की गति से कोई तीव्र गति वाला तत्त्व होता है तो उसके लिये बीते कल,

आज और आने वाले कल में कोई अंतर ही न रहेगा। भारतीय शास्त्र पग-पग पर उसी महान सत्ता में अपने आपको घुलाने और परम पद पाने की बात कहते हैं। निःसंदेह वह एक अति समर्थ, अत्यंत संवेदनशील स्थिति होगी। यह घटनाएँ इस दिक्कालातीत चिन्मय ब्रह्म-सत्ता से अपनी अभिन्नता जुड़ने की अनुभूति ही हो सकती है। क्षणिक संपर्क इतना आश्चर्यजनक हो सकता है तो उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति कितना सामर्थ्य प्रदान करने वाली होगी—तब मनुष्य को किसी प्रकार के अभाव वस्तुतः क्यों कर सताते होंगे ?

ऋग्वेद में एक ऋचा आती है—'**अग्निना अग्निः समिध्यते**, अर्थात् अग्नि से अग्नि प्रदीप्त होता है। आत्मज्ञान आत्मानुभूति से ब्रह्म प्राप्ति इसी सिद्धांत पर होती है। उपरोक्त घटनाएँ 'अंतः स्फुरण' तथा 'आत्म जागृति' की क्षणिक अनुभूतियाँ हैं। रेडियो घुमाते-घुमाते अनायास कोई अति सूक्ष्म स्टेशन सैकंड के सौवें हिस्से में पकड़ में आ जाता है फिर ढूँढ़ने से भी नहीं मिलता। यह घटनाएँ वैसा ही तत्त्व बोध हैं, विस्तृत अनुभूति, ज्ञान प्राप्ति, ईश्वर की शक्तियों को अनुभव करने के लिए तो आत्म परिष्कार की गहराई में उतरना पड़ेगा। जो लोग सांसारिकता में ही पड़े रहेंगे वे न तो उस महान् को अनुभव कर सकेंगे न पा सकेंगे। वे तो ऐसी घटनाओं पर भी अटकलें ही लगाते रहेंगे।

➢ असीम को खोजें

यह खोज-खबर इसलिए भी उपयोगी है कि 'एकाकीपन नामक कोई तत्त्व अगले दिनों शेष नहीं रहने वाला है। इस विश्व का कण-कण एक-दूसरे से अत्यंत सघनता और जटिलता के साथ जुड़ा हुआ है, उन्हें पृथक् करने से किसी की सत्ता अक्षुण्ण नहीं रह सकती। सब एक-दूसरे के साथ इतनी मजबूत जंजीरों से बँधे हुए हैं कि पृथकता की बात सोचना दूसरे अर्थों में मृत्यु को आमंत्रण देना ही कहा जा सकता है।

शरीर में कोशिकाओं की स्वतंत्र सत्ता अवश्य है, पर वह अपने आप में पूर्ण नहीं है। एक से दूसरे का पोषण होता है और दूसरे-तीसरे को बल मिलता है। हम सभी एक-दूसरे पर निर्भर हैं। यहाँ न कोई स्वतंत्र है न स्वावलंबी। सघन सामूहिकता ही विभिन्न प्रकार के क्रिया-कलापों, अस्तित्वों और तथ्यों की जननी है। मानवी प्रगति की यही रहस्य है। प्रकृति प्रदत्त समूह-संरचना का उसने अधिक बुद्धिमत्तापूर्वक लाभ उठाकर समाज-व्यवस्था बनाई और सहयोग के आधार पर परिवार निर्माण से लेकर शासन-सत्ता तक के बहुमुखी घटक खड़े किए हैं। एक-दूसरे के लिए वे किस प्रकार उपयोगी सिद्ध होंगे ? पारस्परिक सहयोग से किस प्रकार एक-दूसरे की सुख-सुविधा बढ़ाएँ ? इसी रीति-नीति के अभिवर्धन को अग्रगामी बनाने के लिए धर्म, अध्यात्म तत्त्व-ज्ञान की आधारशिला रखी गई है। भौतिक विधान की खोज और प्रगति ने प्रकृतिगत परमाणुओं की इसी रीति-नीति का परिचय दिया है। जड़ अथवा चेतन किसी भी पक्ष को देखें, इस विश्व के समस्त आधार पर परस्पर संबद्ध प्रतीत होते हैं और उनकी सार्थकता एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए रहने से ही सिद्ध होती है। एकाकी इकाइयाँ तो इतनी नगण्य है कि वे अपने अस्तित्व का न तो परिचय दे सकती हैं और न उसे रख सकती हैं।

यह सिद्धांत ग्रह-नक्षत्रों पर भी लागू होता है। विश्व-ब्रह्मांड के समस्त ग्रह नक्षत्र अपनी सूत्र संचालक आकाश गंगाओं के साथ जुड़े हैं और आकाश गंगाएँ महत्तत्त्व हिरण्यगर्भ की उँगलियों में बँधी हुई कठपुतलियाँ भर हैं। अगणित सौर मंडल भी एक-दूसरे का परिपोषण करते हुए अपना क्रिया-कलाप चला रहे हैं। सूर्य ही अपने ग्रहों को गुरुत्वाकर्षण में बाँधे हो और उन्हें ताप प्रकाश देता हो सो बात नहीं है, बदले में ग्रह परिवार भी अपने शासनाध्यक्ष सूर्य का विविध आधारों से पोषण करता है। सौर परिवार के ग्रह अपनी जगह से छिटककर किसी अंतरिक्ष में अपना कोई और पथ बना लें

तो फिर सूर्य का संतुलन भी बिगड़ जाएगा और वह आज की स्थिति में न रहकर किसी चित्र-विचित्र विभीषिका में उलझा हुआ दिखाई देगा।

तारे और नक्षत्र में यह अंतर है कि तारा अपनी रोशनी से चमकता है, जबकि नक्षत्रों में अपनी रोशनी नहीं होती। वे तारकों की धूप के प्रकाश में आते हैं तभी चमकते हैं। अपने सौरमंडल में केवल एक ही सूर्य शेष ६ नक्षत्र हैं। ब्रह्मांड की तुलना में अपने सूर्य का सीमा क्षेत्र बहुत छोटा है। पृथ्वी की तुलना में वह बहुत बड़ा है। नक्षत्रों के अपने उपग्रह होते हैं जैसे—पृथ्वी का उपग्रह चंद्रमा। ग्रह स्थिति के १२ चंद्रमा हैं।

जिस प्रकार अपने सौरमंडल के नव-ग्रह सूर्य-तारक के साथ जुड़े हैं, उसी प्रकार ब्रह्मांड के अगणित तारक अपनी-अपनी नीहारिकाओं जो अरबों की संख्या में हैं से जुड़े हैं। उनमें भीतर ऐसी हलचल चलती रहती है, जिसके कारण कुछ समय बाद भयंकर विस्फोट होते हैं और अंतर्भूत पदार्थों में से कुछ टुकड़े बाहर छिटककर स्वतंत्र तारक के रूप में विकसित होते हैं। इन्हीं नवोदित तारकों का नाम 'नोवा' और 'सुपर नोवा' दिया गया है। जिस प्रकार बिल्ली हर साल कई-कई बच्चे देती है, इसी प्रकार से नीहारिकाएँ भी थोड़े-थोड़े दिनों बाद प्रसूता होती हैं और विस्फोट जैसी भयानक प्रसव पीड़ा के साथ नव-तारकों को जन्म देती हैं। बच्चों की सारी हरकतें बेसिलसिले होती हैं, ऐसा ही कुछ ऊट-पटाँग यह नवोदित तारे भी करते रहते हैं। जब वे घिस-पिटकर ठीक हो जाते हैं। शैशव से आगे बढ़कर किशोरावस्था में प्रवेश करते हैं, तब उनकी व्यवस्था क्रमबद्ध हो जाती है। तब तक उनका फुलाव, सिकुड़न, रुदन, उपद्रव, शयन सब कुछ अचंभे जैसा ही है। छोटे बच्चे जैसा बार-बार टट्टी कर देते हैं, उसी प्रकार इन नवोदित तारकों की गरमा-गरम गैस भी फटती-चिटखती रहती है और उससे भी ग्रह, उपग्रह, उल्का धूमकेतु आदि न जाने क्या-क्या अंतरिक्षीय

फुलझड़ियों का सृजन-विसर्जन होता रहता है। इसके अतिरिक्त इन बच्चों में लड़-झगड़ और मारपीट भी कम नहीं होती। निश्चित व्यवस्था का कार्यक्षेत्र न बन पाने के कारण, उनके टकराव भी होते रहते हैं और कभी-कभी तो यह टकराव ऐसे विचित्र होते हैं कि दोनों पक्ष अपना अस्तित्व गँवा बैठे और फिर उसके ध्वंसावशेष से कुछ-कुछ और नवीन संरचना सामने आए।

आकाश की नापतोल मीलों की संख्या में करना, कौड़ियाँ बिछाकर मुहरों का हिसाब करने बैठने की तरह उपहासास्पद होगा। इस प्रकार तो इतनी बिंदियाँ प्रयोग करनी पड़ेंगी कि ज्योतिर्विदों को माप बिंदियों से ही करने पड़े।

सूर्य की दूरी पृथ्वी से १० करोड़ ६० लाख मील है। इसके बाद का सबसे निकटवर्ती तारा २,५०,००,००,००,००० मील दूरी पर है। अन्य तारे तो इससे भी लाखों गुनी दूरी पर हैं। इस दूरी का हिसाब रखने के लिए प्रकाश वर्ष का नया पैमाना बनाया गया है। प्रकाश की किरणें एक सेकंड में एक लाख छियासी हजार मील की चाल से चलती हैं। इस गति से चलते हुए प्रकाश एक वर्ष में जितनी दूरी तय कर ले उसे एक प्रकाश वर्ष कहा जाएगा। इस पैमाने के हिसाब से पृथ्वी से सूर्य की दूरी सिर्फ साढ़े आठ प्रकाश मिनट रह जाती है। इसके आगे किसी और तारे की खोज में आगे बढ़ा जाए तो निकटवर्ती तारा सवा चार प्रकाश वर्ष चल लेने के बाद ही मिलेगा।

ब्रह्मांड का ६६ प्रतिशत भाग शून्य है। एक प्रतिशत भाग को ही नक्षत्र घेरे हुए हैं। अनुमान है कि आकाश में सूर्य जैसे अरबों तारकों का अस्तित्व है। वह तारे आकाशगंगाओं से जुड़े हैं। वे उसी से निकले हैं और उसी से बँधे हैं। मुर्गी अंडे देती है, उन्हें सेती है और जब तक बच्चे समर्थ नहीं हो जाते उन्हें अपने साथ ही लिये फिरती है। आकाशगंगाएँ ऐसी ही मुर्गियाँ हैं, जिसके अंडे बच्चों की गणना करना पूरा सिर दर्द है। हमारी आकाशगंगा एक लाख

प्रकाश वर्ष लंबी और २० हजार प्रकाश वर्ष मोटी है। सूर्य इस मुर्गी का एक छोटा चूजा है, जो अपनी माता से ३३००० प्रकाश वर्ष दूर रहकर, उसकी प्रदक्षिणा १७० मील प्रति सेकंड की गति से करता है। आकाशगंगाएँ भी आकाश में करोड़ों हैं। वे आपस में टकरा न जाएँ या उनके अंडे-बच्चे एक-दूसरे से उलझ न पड़े इसलिए उन्होंने अपने सैर-सपाटे के लिए काफी बड़ा क्षेत्र हथिया लिया है। प्रायः ये आकाशगंगाएँ एक-दूसरे से २० लाख प्रकाश वर्ष दूर रहती हैं।

अब तक खोजे गये तारकों में सबसे बड़ा 'काला तारा' है। यह अपने सूर्य से २० अरब गुना बड़ा है। यहाँ यह भूलना नहीं चाहिए कि सूर्य अपनी पृथ्वी से १३ लाख गुना बड़ा है। उस हिसाब से पृथ्वी की तुलना में काला तारा बड़ा होगा, इसे कागज पर जोड़ लेना तो सरल है, पर उस विस्तार को मस्तिष्क में यथावत बिठा सकना बहुत ही कठिन है।

➢ हम विश्वात्मा के घटक

मनुष्य अपने को एकाकी अनुभव करके स्वार्थांध रहने का भूल भले ही करता रहे, पर वस्तुतः इस विराट ब्रह्म का—विशाल विश्व का एक अकिंचन-सा घटक मात्र है। समुद्र की लहरों की तरह उसका अस्तित्व अलग से दीखता भले ही हो, पर वस्तुतः वह समष्टि सत्ता का एक तुच्छ-सा परमाणु भर है। ऐसा परमाणु जिसे अपनी सत्ता और हलचल बनाए रखने के लिये दूसरी महाशक्तियों के अनुदान पर निर्भर रहना पड़ता है।

अपनी पृथ्वी सूर्य से बहुत दूर है और उसका कोई प्रत्यक्ष संबंध दिखाई नहीं पड़ता, फिर भी वह पूरी तरह सूर्य पर आश्रित है। सर्दी, गर्मी, वर्षा, दिन रात्रि जैसी घटनाओं से लेकर प्राणियों में पाया जाने वाला उत्साह और अवसाद भी सूर्य संपर्क से संबंधित रहता है। वनस्पतियों का उत्पादन और प्राणियों की हलचल में जो जीवन तत्त्व काम करता है, उसे भौतिक परीक्षण से नापा जाए तो

उसे सूर्य का ही अनुदान कहा जाएगा। असंख्य जीव कोशाओं से मिलकर एक शरीर बनता है, उन सबके समन्वित सहयोग भरे प्रयास से जीवन की गाड़ी चलती है। प्राण तत्त्व से इन सभी कोशाओं को अपनी स्थिति बनाए रखने की सामर्थ्य मिलती है। इसी प्रकार इस संसार के समस्त जड़-चेतन घटकों को सूर्य से अभीष्ट विकास के लिये आवश्यक अनुदान संतुलित और समुचित मात्रा में मिलता है।

प्राणियों, वनस्पतियों पर पदार्थों की गतिविधियों पर सूर्य के प्रभाव का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उनकी स्वावलंबी हलचलें वस्तुतः परावलंबी हैं।

(१) संसार अन्योन्याश्रित है।

(२) सूर्य, चंद्र, मनुष्य वृक्ष जीवों को प्रभावित करते हैं। सूर्य की उँगलियों में बँधे हुये धागे ही बाजीगर द्वारा कठपुतली नचाने की तरह विभिन्न गतिविधियों की चित्र-विचित्र भूमिकाएँ प्रस्तुत करते हैं। यहाँ तक कि प्राणियों का, मनुष्यों का चिंतन और चरित्र तक इस शक्ति-प्रवाह पर आश्रित रहता है। न केवल सूर्य वरन् न्यूनाधिक मात्रा में सौरमंडल के ग्रह, उपग्रह तथा ब्रह्मांड क्षेत्र के सूर्य तारक भी हमारी सत्ता-स्थिरता एवं प्रगति को प्रभावित करते हैं।

वनस्पति विज्ञानी वृक्षों के तनों में बनने वाले वर्तुलों द्वारा वृक्षों के जीवन का अध्ययन करते हैं। देखा गया है कि वृक्ष में प्रतिवर्ष एक वृत्त बनता है, जो कि उसके द्वारा छोड़ी गई छाल से विनिर्मित होता है। हर ग्यारहवें वर्ष यह वृत्त सामान्य वृत्तों की अपेक्षा बड़ा बनता है। अमेरिका के रिसर्च सेंटर ऑफ ट्री रिंग ने पता लगाया कि ग्यारहवें वर्ष जब सूर्य पर आणविक विस्फोट होते हैं तो वृक्ष का तना मोटा हो जाता है और उसी कारण वृत्त बड़ा बनता है। स्पष्ट है कि सूर्य और चंद्र के परिवर्तनों से मनुष्यों एवं पशु-पक्षी तथा पेड़-पौधे भी प्रभावित होते हैं। तब क्या मात्र मनुष्यों में ही सामूहिक मनश्चेतना न होकर संपूर्ण सृष्टि में ही कोई एक

समष्टि चेतना विद्यमान है ? यह प्रश्न आज वैज्ञानिकों के सामने खड़ा उन्हें आकर्षित कर रहा है।

डॉ. हेराल्ड श्वोइत्जर के नेतृत्व में आस्ट्रिया के वैज्ञानिकों ने सूर्यग्रहण के प्रभावों का निरीक्षण-परीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला कि पूर्व सूर्यग्रहण के समय सामान्य कीट-पतंग भी विचित्र आचरण करने लगते हैं।

अनेक पक्षी सूर्यग्रहण के चौबीस घंटे पूर्व ही चहचहाना बंद कर देते हैं। चीटियाँ सूर्यग्रहण के आधा घंटे पूर्व से भोजन की खोजबीन बंद कर देती हैं और व्यर्थ ही भटकती रहती हैं। सदा चंचल बंदर वृक्षों को छोड़कर जमीन पर आ बैठता है। वुड लाइस बीटल्स, मिली पीड्स आदि ऐसे कीट-पतंग जो सामान्यतः रात्रि में ही बाहर निकलते हैं, वे भी सूर्यग्रहण के दिन बाहर निकले देखे जाते हैं। दिशा-विज्ञान में दक्ष चिड़ियाँ भी चकित हो जाती हैं और उन्हें दिशा बोध नहीं रह जाता। नीलकंठ, गौरैया जैसी कुछ चिड़ियों को छोड़कर शेष चिड़ियाँ चहकना भी भूल-सा जाती हैं।

जापान के प्रख्यात जैविकी विदों के अनुसार हर ग्यारह वर्ष सूर्य पर होने वाले आणविक विस्फोटों के समय पृथ्वी पर पुरुषों के रक्त में अम्ल तत्त्व बढ़ जाते हैं और उनका रक्त पतला पड़ जाता है।

पृथ्वी का मात्र सूर्य से अथवा अपने ही उपग्रह चंद्र से ही अंतर्संबंध नहीं है। प्रोफेसर ब्राउन ने मंगल, शुक्र, वृहस्पति आदि ग्रहों का अध्ययन कर यह सिद्ध किया है कि इनकी गतियों और स्थितियों के परिवर्तन से पृथ्वी भी प्रभावित होती है। ये सभी सूर्य संतति ही तो हैं और जुड़वा बच्चों वाला सिद्धांत यहाँ भी घटित होता है, तो आश्चर्य ही क्या ?

रूसी वैज्ञानिक चीजेस्वकी ने १९२० में ही यह सिद्ध कर दिया था कि सूर्य पर प्रति ग्यारहवें वर्ष होने वाले आणविक विस्फोट से पृथ्वी पर युद्ध एवं क्रांतियों का उद्‌भव-विकास होता है।

उनका कहना था कि पृथ्वी पर घटित होने वाले प्रत्येक प्रमुख परिवर्तन का संबंध सूर्य से होता है।

ऐसे ही निष्कर्षों के विस्तृत अध्ययन व इस दिशा में व्यापक अनुसंधान प्रयासों के लिए १९५० में वैज्ञानिक जियोजारजी गिआर्डी ने ब्रह्मांड रसायन को जन्म दिया। गिआर्डी के अनुसार समूचा ब्रह्मांड एक शरीर है और इसके सभी अंग इससे संपूर्णतः एकात्म है। इसका अर्थ हुआ कि प्रत्येक नक्षत्र पिंड, फिर वह कितनी भी दूरी पर क्यों न हो, पृथ्वी के जीवन को प्रभावित करता है।

भारत में इसी तत्त्वदर्शन के अनुरूप अतीत में ज्योतिर्विज्ञान का विकास हुआ था। आर्यभट्ट का ज्योतिष सिद्धांत, कालक्रिया पाद, गोलपाद और सूर्य सिद्धांत, फिर नारदेव, ब्रह्मगुप्त आदि द्वारा उन सिद्धांतों का संशोधन-परिवर्धन, भास्कराचार्य का महाभाष्करीय आदि ग्रंथ उस महत् प्रयास के कुछ सुलभ-अवशिष्ट परिणाम हैं। बाद में इस विशुद्ध विज्ञान का जो दुरुपयोग हुआ, उसे जातीय-जीवन क्रम में ह्रास-काल की अराजकता समझते हुए उसके मूल सिद्धांत-सूत्रों तक संकेतों के आधार पर इस दिशा में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

भारतीय तत्त्वमनीषी हजारों वर्ष पूर्व इस तथ्य से परिचित थे कि जड़ता वस्तुतः कहीं है नहीं। वह हमारी स्थूल दृष्टि की 'एपियरेंस' या आभास मात्र है। यथार्थतः सर्वत्र आत्मचेतना ही विद्यमान है। यह सर्वव्यापी चैतन्य सत्ता ही विश्वात्मा है। विश्वात्मा के साथ आत्मा की जितनी समीपता, घनिष्ठता होती है, उसी अनुपात से उसे विशिष्ट अनुदान प्राप्त होते हैं।

भारतीय मनीषियों की मान्यता है कि सृष्टि के आरंभ में एक मूल द्रव्य हिरण्यगर्भ था। उसी के विस्फोट से आकाशगंगाएँ विनिर्मित हुईं। इस विस्फोट की तेजी कुछ तो धीमी हुई है, पर अभी भी उस छिटकाव की चाल बहुत तीव्र है। अनंत आकाश

में यों आकाशगंगाएँ अपनी-अपनी दिशा में द्रुत गति से दौड़ती जा रही हैं। इस संदर्भ में अपनी आकाशगंगा की चाल २४,३०० मील प्रति सेकंड नापी गयी है।

यह विश्व अनंत है और उसके संबंध में जानकारियाँ प्राप्त करने का क्षेत्र भी असीम है। इस असीम और अनंत की खोज के लिए बिना निराश हुए मनुष्य की असीमता किस उत्साह के साथ अग्रगामी हो रही है ? यह देखकर विश्वास होता है कि मानवी महत्ता अद्‌भुत है और यदि वह सही राह पर चले तो न केवल प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन करने में वरन् उन्हें करतलगत करने में भी समर्थ हो सकती है।

❑ ❑

तत्त्वदर्शन से आनंद और मोक्ष

पैंगल तब महर्षि नहीं बने थे। उसके लिये आत्मा-सिद्धि आवश्यक थी। पर पेंगल साधना करते-करते पदार्थों की विविधता में ही उलझकर रह गये। पशु-पक्षी, अन्य जंतु, मछलियाँ, साँप, कीड़े-मकोड़ों में शरीरों और प्रवृत्तियों की भिन्नता होने पर भी शुद्ध अहंकार और चेतना की एकता तो समझ में आ गई, पर विस्तृत पहाड़, टीले, जंगल, नदी, नाले, समुद्र, सूर्य, चंद्रमा, तारे, प्रकाश और पृथ्वी पर पाए जाने वाले विविध खनिज धातुएँ, गैसें ठोस आदि क्या हैं, क्यों हैं, और उनमें यह विविधता कहाँ से आई है ? यह उनकी समझ में नहीं आया। इससे उनकी आत्म-दर्शन की आकांक्षा और बेचैन हो उठी।

वे याज्ञवल्क्य के पास गये और उसकी बारह वर्ष तक सेवा सुश्रुषा कर पदार्थ-विद्या का ज्ञान प्राप्त किया। इस अध्ययन से पेंगल का मस्तिष्क साफ हो गया कि जड़ पदार्थ भी एक ही मूल सत्ता के अंश हैं। सब कुछ एक ही तत्त्व से उपजा है। **'एकोऽहं बहुस्याम्'**, 'एक नूर से सब जग उपजिआ' वाली बात उन्हें पदार्थ विषम में भी अक्षरशः सत्य प्रतीत हुई। पेंगलोपनिषद् में इस कैवल्य का उपदेश मुनि याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार दिया है—

सदैव सोम्येदमग्र आसीत्। तन्नित्यमुक्तमविक्रियं सत्य ज्ञानानन्दं परिपूर्णं सनातनमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। तस्मिन् मरुशुक्तिकास्थाणुस्फटिकादौ जलरौप्यपुरुषरेखाऽऽदिवल्लोहित-शुक्ल-कृष्ण-गुणमयीगुणसाम्यानिर्वाच्या मूलप्रकृतिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्त्साक्षि चैतन्यमासीत्।।"

—पैंगलोपनिषद् १।२-३

हे पैंगल ! पहले केवल एक ही तत्त्व था। वह नित्य मुक्त, अविकारी, ज्ञानरूप चैतन्य और आनंद से परिपूर्ण था, वही ब्रह्म है। उससे लाल, श्वेत, कृष्ण वर्ण की तीन प्रकाश किरणों या गुण वाली प्रकृति उत्पन्न हुई। यह ऐसा था जैसे सीपी में मोती, भ्रूण में पुरुष और मणि में रेखाएँ होती हैं। तीन गुणों से बना हुआ साक्षी भी चैतन्य हुआ। वह मूल प्रकृति फिर विकारयुक्त हुई, तब वह सत्व गुण वाली आवरण शक्ति हुई, जिसे अव्यक्त कहते हैं। उसी में समस्त विश्व लपेटे हुए वस्त्र के समान रहता है। ईश्वर में अधिष्ठित आवरण शक्ति से रजोगुणमयी विक्षेप शक्ति होती है, जिसे महत् कहते हैं। उसका जो प्रतिबिंब पड़ता है, वह चैतन्य हिरण्यगर्भ कहा जाता है। वह महत्तत्त्व वाला कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट आकार का होता है।

इसी उपनिषद् में आगे क्रमशः इसे विक्षेप से आत्मा, आत्मा से आकाश आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी आदि उत्पन्न हुए बताए गए हैं। वस्तुतः यह परतें एक ही तत्त्व की क्रमशः स्थूल अवस्थाएँ हैं, जो स्थूल होता गया वह अधिकाधिक दृश्य, स्पर्श्य होता गया। ऊपरी कक्षा अर्थात ईश्वर की ओर वही तत्त्व अधिक चेतन और निर्विकार होता गया। वायु की लहरों के समान विभिन्न तत्त्व प्रतिभासित होते हुए भी संसार के सब तत्त्व एक ही मूल तत्त्व से आविर्भूत हुए हैं, उसे महाशक्ति कहा जाए, आत्मा या परमात्मा सब एक ही सत्ता के अनेक नाम हैं।

➢ एक ही सत्ता ओत-प्रोत है

आइंस्टीन एक ऐसे फार्मूले की खोज में थे, जिससे जड़ और चेतन की भिन्नता को एकता में निरस्त किया जा सके। प्रकृति अपने आप में पूर्ण नहीं, उसे पुरुष द्वारा प्रेरित, प्रोत्साहित और फलवती किया जा रहा है। यह युग्म जब तक सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक विज्ञान के कदम लँगड़ाते हुए ही चलेंगे।

जड़ और चेतन के बीच की खाई अब पटने ही वाली है। द्वैत को अद्वैत में परिणत करने का समय अब बहुत समीप आ गया है। विज्ञान क्रमशः इस दिशा में बढ़ रहा है कि वह जड़ को चेतन और चेतन को जड़ सिद्ध करके दोनों को एक ही स्थान पर संयुक्त बनाकर खड़ा कर सके। जीवन रासायनिक पदार्थों से—पंचतत्त्वों से बना है। इस सिद्धांत को सिद्ध करते-करते हम वहीं पहुँच जाते हैं जहाँ यह सिद्ध हो सकता है कि जीवन में पदार्थों की उत्पत्ति है।

उपनिषद् का कहना है कि ईश्वर ने एक से बहुत बनने की इच्छा की, फलतः यह बहुसंख्यक प्राणी और पदार्थ बन गए। यह चेतन से जड़ की उत्पत्ति हुई। नर-नारी कामेच्छा से प्रेरित होकर रति कर्म में निरत होते हैं, फलतः रज-शुक्र के संयोग से भ्रूण का आरंभ होता है। यह भी मानवी चेतना से जड़ शरीर की उत्पत्ति है। जड़ से चेतन उत्पन्न होता है, इसे पानी में काई और मिट्टी में घास उत्पन्न होते समय देखते हैं। गंदगी में मक्खी-मच्छरों का पैदा होना, सड़े हुए फलों में कीड़े उत्पन्न होना यह जड़ से चेतन की उत्पत्ति है।

पदार्थ विज्ञानी इस बात पर बहुत जोर देते हैं कि 'जड़' प्रमुख है। चेतन उसी की एक स्थिति है। ग्रामोफोन का रिकार्ड और उसकी सुई का घर्षण प्रारंभ होने पर आवाज आरंभ हो जाती है, उसी प्रकार अमुक स्थिति में, अमुक अनुपात में इकट्ठे होने पर चेतन जीव की स्थिति में जड़ विकसित हो जाते हैं। जीव-विज्ञानी अपने प्रतिपादनों में इसी तथ्य को प्रमुखता देते हैं।

जीव-विज्ञान को दो भागों में बाँटा जा सकता है—वनस्पति विज्ञान (बॉटनी), प्राणि विज्ञान (जूलॉजी)। इन दो विभाजनों से भी इस महासमुद्र का ठीक तरह विवेचन नहीं हो सकता। इसलिए इसे अन्य भेद-उपभेदों में विभक्त करना पड़ता है।

सूक्ष्मदर्शी यंत्रों से जिन जीवधारियों को देखा समझा जाता है, उसके संबंध में जानकारी सूक्ष्म जैविकी (माइक्रो बायोलॉजी) कही जाती है।

आकारिकी (मारफोलॉजी), शारीरिकी (अनाटोमी), ऊतिकी (हिस्टोलॉजी), कोशिकी (साइटोलॉजी), भ्रूणी (एम्ब्रियोलॉजी), शरीर क्रिया (फिजियोलॉजी), परिस्थिति की (ऐकोलॉजी) आनुवांशिकी (जैनेटिक्स), जैव विकास (आरगैनिक ईवल्यूशन्) आदि।

इन सभी जीव-विज्ञान धाराओं ने यह सिद्ध किया है कि जीवन और कुछ नहीं जड़-पदार्थों का ही विकसित रूप है।

रासायनिक दृष्टि से जीवन सेल और अणु को एक ही तराजू पर तोला जा सकता है। दोनों में प्राय: समान स्तर के प्राकृतिक नियम काम करते हैं। एकाकी एटम—मालेक्यूल्स और इलेक्ट्रॉन्स के बारे में अभी भी वैसी ही खोज जारी है जैसी कि पिछली तीन शताब्दियों में चलती रही है। विकरण—रेडियेशन और गुरुत्वाकर्षण, ग्रेविटेशनों के अभी बहुत-से स्पष्टीकरण होने बाकी हैं। जो समझा जा सका है, वह अपर्याप्त ही नहीं-असंतोषजनक भी है।

यों कोशिकाएँ निरंतर जन्मती—मरती रहती हैं, पर उनमें एक के बाद दूसरी में जीवन तत्त्व का संचार अनवरत रूप से होता रहता है। मृत होने से पूर्व कोशिकाएँ अपना जीवन तत्त्व नवजात कोशा को दे जाती है, इस प्रकार मरण के साथ ही जीवन की अविच्छिन्न परंपरा निरंतर चलती रहती है। उन्हें मरणधर्मा होने के साथ-साथ अजर-अमर भी कह सकते हैं। वस्त्र बदलने जैसी प्रक्रिया चलते रहने पर भी उसकी अविनाशी सत्ता पर कोई आँच नहीं आती।

नोबल पुरस्कार विजेता डा. एलेक्सिन कारेल उन दिनों न्यूयार्क के राकफेलर चिकित्सा अनुसंधान केंद्र में काम कर रहे थे। एक दिन उन्होंने एक मुर्गी के बच्चे के हृदय के जीवित तंतु का एक रेशा लेकर उसे रक्त एवं प्लाज्मा के घोल में रख दिया। वह रेशा अपने कोष्टकों की वृद्धि करता हुआ विकास करने लगा। उसे यदि काटा-छाँटा न जाता तो वह अपनी वृद्धि करते हुए, वजनदार मांस पिंड बन जाता, उस प्रयोग से डा. कारेल ने यह निष्कर्ष निकाला कि जीवन जिन तत्त्वों से बनता है यदि उसे ठीक तरह

जाना जा सके और टूट-फूट को सुधारना संभव हो सके तो अनंतकाल तक जीवित रह सकने की सभी संभावनाएँ विद्यमान हैं।

प्रोटोप्लाज्मा जीवन का मूल तत्त्व है। यह तत्त्व अमरता की विशेषता युक्त है। एक कोश वाला अमीबा-प्राणी निरंतर अपने आपको विभक्त करते हुये वंश वृद्धि करता रहता है। कोई शत्रु उसकी सत्ता ही समाप्त कर दे, यह दूसरी बात है; अन्यथा वह अनंत काल तक जीवित ही नहीं रहेगा वरन् वंश वृद्धि करते रहने में भी समर्थ रहेगा।

रासायनिक सम्मिश्रण से कृत्रिम जीवन उत्पन्न किये जाने की इन दिनों बहुत चर्चा है। छोटे जीवाणु बनाने में ऐसी कुछ सफलता मिली भी है, पर उतने से ही यह दावा करने लगना उचित नहीं कि मनुष्य ने जीवन को—सृजन करने में सफलता प्राप्त कर ली।

जिन रसायनों से जीवन विनिर्मित किये जाने की चर्चा है, क्या उन्हें भी—उनकी प्रकृतिगत विशेषताओं को भी मनुष्य द्वारा बनाया जाना संभव है ? इस प्रश्न पर वैज्ञानिकों को मौन ही साधे रहना पड़ रहा है। पदार्थ की जो मूल प्रकृति एवं विशेषता है, यदि उसे भी मनुष्यकृत प्रयत्नों से नहीं बनाया जा सकता तो इतना ही कहना पड़ेगा कि उसने ढले हुए पुर्जे जोड़कर मशीन खड़ी कर देने जैसा बाल प्रयोजन ही पूरा किया है। ऐसा तो लकड़ी के टुकड़े जोड़कर अक्षर बनाने वाले किंडर गार्डन कक्षाओं के छात्र भी कर लेते हैं। इतनी भर सफलता से जीव निर्माण जैसे दुःसाध्य कार्य को पूरा कर सकने का दावा करना उपहासास्पद गर्वोक्ति है।

कुछ मशीनें बिजली पैदा करती हैं—कुछ तार बिजली बनाते हैं, पर वे सब बिजली तो नहीं है। अमुक रासायनिक पदार्थों के सम्मिश्रण से जीवन पैदा हो सकता है—सो ठीक है, पर उन पदार्थों में जो जीवन पैदा करने की शक्ति है, वह अलौकिक एवं सूक्ष्म है। उस शक्ति को उत्पन्न करना जब तक संभव न हो तब तक जीवन का सृजेता कहला सकने का गौरव मनुष्य को नहीं मिल सकता।

ब्रह्मांड की शक्तियों का और पिंड की—मनुष्य की शक्तियों का एकीकरण कहाँ होता है ? शरीरशास्त्री इसके लिए सुषुम्ना शीर्षस्थ, मेडुला आब्लॉगाटा की ओर इशारा करते हैं। पर वस्तुतः वह वहाँ है नहीं। मस्तिष्क स्थित ब्रह्मरंध्र को ही वह केंद्र मानना पड़ेगा, जहाँ ब्राह्मी और जैवी चेतना का समन्वय सम्मिलन होता है।

ऊपर के तथ्यों पर विचार करने से यह एकांगी मान्यता ही सीमित नहीं रहती कि जड़ से ही चेतन उत्पन्न होता है। इन्हीं तथ्यों से यह भी प्रमाणित होता है कि चेतन ही जड़ की उत्पत्ति का कारण है। मुर्गी से अंडा या अंडे से मुर्गी; नर से नारी या नारी से नर, बीज से वृक्ष या वृक्ष से बीज—जैसे प्रश्न अभी भी अनिर्णीत पड़े हैं। उनका हल न मिलने पर भी किसी को कोई परेशानी नहीं। दोनों को अन्योन्याश्रित मानकर भी काम चल सकता है। ठीक इसी प्रकार जड़ और चेतन में कौन प्रमुख है ? इस बात पर जोर न देकर यही मानना उचित है कि दोनों एक ही ब्रह्म सत्ता की दो परिस्थितियाँ मात्र हैं। द्वैत दीखता भर है, वस्तुतः यह अद्वैत ही बिखरा पड़ा है।

न केवल चेतन समुदाय अपितु सृष्टि का प्रत्येक कण पूर्णता के लिए लालायित और गतिशील है। भौतिक-जीवन में जिसके पास स्वल्प संपदा है वह और अधिक ही प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है, पर जो धनाढ्य हैं उन्हें भी संतोष नहीं। उसी के परिमाण में वह और अधिक प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाई देता है। बड़े-बड़े सम्राट तक अपनी इस अपूर्णता को पाटने के लिये अपाधापी मचाते और दूसरे साम्राज्यों की लूटपाट करते पाये जाते हैं, तो लगता है सृष्टि का हर प्राणी साधनों की दृष्टि से अपूर्ण है। इस दिशा में पूर्णता प्राप्त करने की हुड़क हर किसी में चढ़ी-बैठी दिखाई देती है।

नदियाँ अपनी अपूर्णता को दूर करने के लिये सागर की ओर भागती है, वृक्ष आकाश छूने दौड़ते हैं, धरती स्वयं भी अपने आपको नचाती हुई न जाने किस गंतव्य की ओर अधर आकाश में

भागी जा रही है, अपूर्णता की इस दौड़ में समूचा सौरमंडल और उससे परे का अदृश्य संसार सम्मिलित है। पूर्णता प्राप्ति की बेचैनी न होती तो संभवतः संसार में रत्ती भर भी सक्रियता न होती सर्वत्र नीरव सुनसान पड़ा होता, न समुद्र उबलता, न मेघ बरसते, न वृक्ष उगते; न तारागण चमकते और न ही वे विराट की प्रदक्षिणा में मारे-मारे घूमते ?

जीवन की सार्थकता पूर्णता प्राप्ति में है, इसका तात्पर्य यह हुआ कि अभी हम अपूर्ण हैं, असत्य हैं, अंधकार में हैं। हमारे सामने मृत्यु मुँह बाए खड़ी है। अंधकार, असत्य और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिये हम प्रकाश, सत्य और अमरता की ओर अग्रसर होना चाहते हैं, पर हो कोई नहीं पाता। हर कोई अपने आपको अशक्त और असहाय पाता है, अज्ञानांधकार में हाथ-पैर पटकता रहता है।

इस अपूर्णता पर जब कभी विचार जाता है, तब एक ही तथ्य सामने आता है और वह है "परमात्मा"—अर्थात एक ऐसी सर्वोपरि सर्वशक्तिमान सत्ता जिसके लिए कुछ भी अपूर्ण नहीं है। वह सर्वज्ञ है, सर्वव्यापी, सर्वद्रष्टा, नियामक और एकमात्र अपनी इच्छा से संपूर्ण सृष्टि में संचरण कर सकने की क्षमता से ओत-प्रोत है।

विकासवाद के जनक डार्विन ने यह सिद्धांत तो प्रतिपादित कर दिया कि प्रारंभ में एक कोशीय जीव-अमीबा की उत्पत्ति हुई, यही अमीबा फिर 'हाइड्रा' में विकसित हुआ, हाइड्रा मछली, मंडूक सर्पणशील पक्षी, स्तनधारी जीवों आदि की श्रेणियों में विकसित होता हुआ वह बंदर की शक्ल तक पहुँचा, आज का विकसित मनुष्य शरीर इसी बंदर की संतान है। इसके लिए शरीर रचना के कुछ खाँचे भी मिलाए गये। जहाँ नहीं मिले वहाँ यह मान लिया गया कि वह कड़ियाँ लुप्त हैं और कभी उसकी भी जानकारी हो सकती है।

इस प्रतिपादन में डार्विन और इस सिद्धांत के अध्येता यह भूल गये कि अमीबा से ही नर-मादा दो श्रेणियाँ कैसे विकसित

हुई ? अमीबा एक कोशीय था, उससे दो कोशीय हाइड्रा पैदा हुआ, क्या अन्य सभी जीव इसी गुणोत्तर श्रेणी में आ सकते हैं ? यदि सर्पणशील जीवों से परधारी जीव विकसित हुए तो वह कृमि जैसे चींटे, पतंगे, मच्छर आदि कृमि जो उड़ लेते हैं, वे किस विकास प्रक्रिया में रखे जायेंगे ? पक्षी, जल-जंतु और कीड़े सभी मांस खाते हैं। स्तनधारी उन्हीं से विकसित हुए तो गाय, भैंस, बकरी, हाथी आदि मांस क्यों नहीं खाते ? हाथी के दाँत होते हैं हथनियों के नहीं, मुर्गे में कलगी होती है मुर्गी में नहीं। मोर के रंग-बिरंगे पंख होते हैं और मोरनियाँ बिना पंख वाली, विकास प्रक्रिया में एक ही जीव श्रेणी में यह अंतर क्यों ? प्राणियों में दाँतों की संख्या, आकृति, प्रकृति में अंतर पाया जाता है। घोड़े के स्तन नहीं होते, बैल के अंडकोश के पास स्तन होते हैं। पक्षियों की अपेक्षा सर्प और कछुए हजारों वर्ष की आयु वाले होते हैं; यह सभी असमानताएँ इस बात का प्रमाण हैं कि सृष्टि रचना किसी विकास का परिणाम नहीं, अपितु किसी स्वयंभू सत्ता द्वारा विधिवत रची गई कलाकृति है।

विकासवाद के सिद्धांत के समर्थक यह कह सकते हैं कि अपने सुविधापूर्ण जीवन के लिए इच्छा ने उन जीवों के शरीर संस्थानों में अंतर किया और यह अंतर स्पष्ट होते-होते एक जीव से दूसरी किस्म का उसी से मिलता हुआ जीव विकसित होता गया। थोड़ी देर के लिये यह बात मान लें और मनुष्य शरीर को इस कसौटी पर कसें तो भी बात विकासवाद के विपरीत ही बैठेगी। मनुष्य कब से पक्षियों को देखकर आकाश में स्वतंत्र उड़ने को लालायित हैं, किन्तु उसके शरीर में कहीं कोई पंख उगा क्या, समुद्र में तैरते जहाज देखकर हर किसी का मन करने लगता है कि हम भी गोता लगाएँ और मछलियों की तरह कहीं से कहीं घूम आएँ, पर वह डूबने से बच पाएगा क्या ?

यह प्रश्न अब उन लोगों को भी विपरीत दिशा में सोचने और परमात्मा-सत्ता के अस्तित्व में होने की बात मानने को विवश करते

हैं, जो कभी इस सिद्धांत के समर्थक रहे हैं। राबर्ट ए मिल्लीकान का कथन है—विकासवाद के सिद्धांत से पता चलता है कि जिस तरह प्रकृति अपने गुणों और नियमों के अनुसार पदार्थ पैदा करती है, उससे विपरीत परमात्मा में ही वह शक्ति है कि वह अपनी इच्छा से सृष्टि का निर्माण करता है। प्रकृति बीज से सजातीय पौधा पैदा करती है, आम के बीज से इमली पैदा करने की शक्ति प्रकृति में नहीं है। इस तरह के बीज और ऊपर वर्णित विलक्षण रचनाएँ पैदा करने वाली सत्ता एकमात्र परमात्मा ही हो सकता है। वही अपने आप में एक परिपूर्ण सत्ता है और वही विभिन्न इच्छाओं, अनुभूतियों, गुण तथा धर्म वाली परिपूर्ण रचनाएँ सृजन करता है।

क्रमिक विकास की नहीं, भारतीय दर्शन पूर्णता से पूर्णता की उत्पत्ति मानता है। श्रुति कहती है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

अर्थात्—पूर्ण परमब्रह्म परमात्मा से पूर्ण जगत—पूर्ण मानव की उत्पत्ति हुई। पूर्ण से पूर्ण को निकाल देने से पूर्ण ही शेष रहता है।

नदी का एक किनारा समुद्र से जुड़ा रहता है और दूसरा किनारा उससे दूर होता है। दूर होते हुये भी नदी समुद्र से अलग नहीं। नदी को जल समुद्र द्वारा प्राप्त होता है और पुनः समुद्र में मिल जाता है। जगत उस पूर्ण ब्रह्म से अलग नहीं। मनुष्य उसी पूर्ण ब्रह्म से उत्पन्न हुआ, इसलिए अपने में स्वयं पूर्ण है, यदि इस पूर्णता का भान नहीं होता, यदि मनुष्य कष्ट और दुःखों से त्राण नहीं पाता तो इसका एकमात्र कारण उसका अज्ञान और अहंकार में पड़े रहना ही हो सकता है। इतने पर पूर्णता हर मनुष्य की आंतरिक अभिलाषा है और वह नैसर्गिक रूप से हर किसी में विद्यमान रहती है।

क्षुद्रता की परिधि को तोड़कर पूर्णता प्राप्त कर लेना हर किसी के लिये संभव है। मनुष्य की चेतन सत्ता में वह क्षमता मौजूद है, जिसके सहारे वह अपने स्थूल और कारण शरीरों का उपयोग कर देवोपम जीवन जी सकता है। यह क्षमता उसने खो दी है। मात्र जीवन निर्वाह क्रम पूरा होते रहने भर का लाभ उस क्षमता से हो सकना संभव होता है। यह उसे प्रचंड क्षमता का एक स्वरूप अंश मात्र है।

➢ बंधन क्या ? मुक्ति कैसे ?

अधिकांश क्षमता तो भव-बंधनों में ही पड़ी जकड़ी रहती है। भव-बंधन क्या है ? व्यामोह ही भव-बंधन है। भव-बंधनों में पड़ा हुआ प्राणी कराहता रहता है और हाथ-पैर बँधे होने के कारण प्रगति पथ पर बढ़ सकने में असमर्थ रहता है। व्यामोह को माया कहते हैं। माया का अर्थ है—नशे जैसी खुमारी, जिसमें एक विशेष प्रकार की मस्ती होती है। साथ ही अपनी मूल स्थिति की विस्मृति भी जुड़ी रहती है। संक्षेप में विस्मृति और मस्ती के समन्वय को नशे की पिनक कहा जा सकता है, चेतना की इसी विचित्र स्थिति को माया, मूढ़ता, अविद्या, भव-बंधन आदि नामों से पुकारा जाता है।

ऐसी विडंबना में किस कारण प्राणी बँधता, फँसता है ? इस प्रश्न पर प्रकाश डालते हुए आत्मद्रष्टाओं ने विषयवती वृत्ति को इसका दोषी बताया है। विषयवती वृत्ति की प्रबलता को बंधन का मूल कारण बताते हुये महर्षि पातंजलि ने योग दर्शन के कुछ सूत्रों में वस्तुस्थिति पर प्रकाश डाला है।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबंधनी।

—योग. द. १-३५

सत्त्व पुरुष योरत्यन्ता संकीर्णयोः प्रत्यया विशेषो भोगः। परार्थात्स्वार्थ संयतात्पुरुष ज्ञानम्। —यो. द. ३-३५

ततः प्रातिभ श्रावण वेदनादर्शा स्वादवार्ता जायन्ते।

—यो. द. ३-३६

उपरोक्त सूत्रों में यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि शारीरिक विषय-विकारों में आसक्ति बढ़ जाने से जीव अपनी मूल स्थिति को भूल जाता है और उन रसास्वादनों में निमग्न होकर भव-बंधनों में बँधता है।

लालची मक्खी और चींटी की आसक्ति, आतुरता उसे विपत्ति के बंधनों में जकड़ देती है और प्राण संकट उपस्थित करती है। चासनी को आतुरतापूर्वक निगल जाने के लोभ में यह अबोध प्राणी उस पर बेतरह टूट पड़ते हैं और अपने पंख, पैर उसी में फँसा कर जान गँवाते हैं। मछली को आटे की गोली निगलने और पक्षी के जाल में जा फँसने के पीछे भी वह आतुर आसक्ति ही कारण होती है, जिसके कारण आगा-पीछा सोचने की विवेक बुद्धि को काम कर सकने का अवसर ही नहीं मिलता।

शरीर के साथ जीव का अत्यधिक तादात्म्य बन जाना ही आसक्ति एवं माया है। होना यह चाहिए कि आत्मा और शरीर के साथ स्वामी-सेवक का, शिल्पी-उपकरण का भाव बना रहे। जीव समझता रहे कि मेरी स्वतंत्र सत्ता है। शरीर के वाहन-साधन प्रकृति यात्रा की सुविधा भर के लिए मिले हैं। साधन की सुरक्षा उचित है। किंतु शिल्पी अपने को अपने सृजन-प्रयोजन को भूल कर उपकरणों में खिलवाड़ करते रहने में सारी सुध-बुध खोकर तल्लीन बन जाए तो यह स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण ही होगी। तीनों शरीर तीन बंधनों में बँधते हैं। स्थूल शरीर इंद्रिय-लिप्सा में, वासना में। सूक्ष्म शरीर (मस्तिष्क) संबंधियों तथा संपदा के व्यामोह में। कारण शरीर-अहंता के आतंक फैलाने वाले उद्धत प्रदर्शनों में। इस प्रकार तीनों शरीर-तीन बंधनों में बँधते हैं और आत्मा उन्हीं में तन्मय रहने की स्थिति में स्वयं ही भव-बंधनों में बँध जाता है। यह लिप्सा-लालसाएँ इतनी मादक होती हैं कि जीव उन्हें छोड़कर अपने स्वरूप एवं लक्ष्य को ही विस्मृति के गर्त में फेंक देता है। वेणुनाद पर मोहित होने वाले मृग वधिक के हाथों पड़ते हैं। पराग लोलुप भ्रमर-कमल में कैद होकर दम घुटने का कष्ट सहता है। दीपक की चमक से

आकर्षित पतंगे की जो दुर्गति होती है, वह सर्वविदित है। लगभग ऐसी ही स्थिति व्यामोह ग्रसित जीव की भी होती है। उसे इस बात की न तो इच्छा उठती है और न फुरसत होती है कि अपने स्वरूप और लक्ष्य को पहचाने। उत्कर्ष के लिए आवश्यक संकल्प शक्ति जगाई जा सकती तो इस महान प्रयोजन के लिये मिली हुई विशिष्ट क्षमताओं को भी खोजा, जगाया जा सकता था। किंतु उसके लिये प्रयत्न कौन करें ? क्यों करें ? जब विषयानंद की ललक ही मदिरा की तरह नस-नस पर छाई हुई है तो ब्रह्मानंद की बात कौन सोचे ? क्यों सोचे ?

इस दुर्गति में पड़े रहने से आज का समय किसी प्रकार कट भी सकता है, पर भविष्य तो अंधकार से ही भरा रहेगा। विवेक की एक किरण भी कभी चमक सके तो उसकी प्रतिक्रिया परिवर्तन के लिये तड़पन उठने के रूप में ही होगी। प्रस्तुत दुर्दशा की विडंबना और उज्ज्वल भविष्य की संभावना का तुलनात्मक विवेचन करने पर निश्चित रूप से यही उमंग उभरेगी कि परिवर्तन के लिये साहस जुटाया जाय। इसी उभार के द्वारा अध्यात्म जीवन में प्रवेश और साधना प्रयोजनों का अवलंबन आरंभ होता है।

परिवर्तन का प्रथम चरण है, बंधनों का शिथिल करना। आकर्षणों के अवरोधों से विमुख होना। आसक्ति को वैराग्य की मनः स्थिति में बदलना। इसके लिये कई तरह के समयपरक उपायों का अवलंबन करना पड़ता है। साधना रुचि परिवर्तन की प्रवृत्ति को उकसाने से आरंभ होती है। इस संदर्भ में महर्षि पातंजलि का कथन है।

बन्धकारण शैथिल्यात्प्राचार सम्वेदनाच्च ।
चित्तस्य पर शरीरावेशः ।।

—योग दर्शन ३-३८

बंधनों के कारण ढीले हो जाने पर चित्त की सीमा, परिधि और संवेदना व्यापक हो जाती है।

मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रंथिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥

—शिव गीता १३।३२

अर्थात—मोक्ष किसी स्थान विशेष में निवास करने की स्थिति नहीं है। न उसके लिये किसी अन्य नगर या लोक में जाना पड़ता है। हृदय के अज्ञानांधकार का समाप्त हो जाना ही मोक्ष है।

मोक्ष में परमात्मा की प्राप्ति होती है अथवा परमात्मा की प्राप्ति ही मोक्ष है। यह मोक्ष क्या है ? भव-बंधन क्या है ? वासना, तृष्णा और अहंता के काम, लोभ और क्रोध के नागपाश, इनसे बँधा हुआ प्राणी ही माया ग्रसित कहलाता है। यही नारकीय दुर्दशा का दलदल है। इससे उबरते ही आत्मज्ञान का आलोक और आत्म-दर्शन का आनंद मिलता है। इस स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्तिं परमात्मा का सच्चा सान्निध्य प्राप्त करता है और ज्ञान तथा सामर्थ्य में उसी के समतुल्य बन जाता है।

अथर्ववेद में कहा गया है—

ये पुरुषे ब्रह्मविदुः ते विदुः परमेष्ठितम्।

—अथर्व. १०।७।१७

अर्थात जो आत्मा को जान लेता है, उसी के लिये परमात्मा का जान लेना भी संभव है। ऋग्वेद में आत्मज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान कहा गया है। ग्रंथों के पढ़ने से जानकारियाँ बढ़ती हैं, आत्मानुभूति से अपने आपको और परमतत्त्व को जाना जाता है। श्रद्धाविहीन शब्दचर्चा का ऊहापोह करते रहने से तो आत्मा की उपलब्धि नहीं होती। एक ऋचा है—**"यः तद् न वेद किम् ऋचा करिष्यति।"**

जो उस आत्म तत्त्व को नहीं जान पाया, वह मंत्र, बात या विवेचन करते रहने भर से क्या पा सकेगा ? उपनिषद् का कथन है—**"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"** अर्थात ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही बन जाता है।

यह स्थिति जीवन और जगत के पीछे छिपी हुई कारण सत्ता को देखने तथा उसे समझने बोध प्राप्त करने के लिये साधन स्तर के प्रयासों से ही संभव है। भारतीय मनीषियों ने इसीलिये तत्त्व दर्शन को ही बंधन मुक्ति का उपाय बताया है, यह दृष्टि अपने मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के परिष्कारपूर्वक ही विकसित की जा सकती है। योग तप, ब्रह्मविद्या, साधना, उपासना, अभ्यास, मनन, चिंतन और ध्यान निदिध्यासन द्वारा चित्तवृत्ति को इतना निर्मल परिष्कृत बनाया जाता है कि यह तत्त्व दृष्टि विकसित की जा सके।

□ □

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।